1

भारतीय प्रशासन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि : ब्रिटिश काल का प्रभाव

[HISTORICAL BACKGROUND OF THE INDIAN ADMINISTRATION : INFLUENCE OF THE BRITISH PERIOD]

भारत का वर्तमान प्रशासन अतीतकालीन प्रशासनिक व्यवस्थाओं एवं प्रागैतिहासिक शासनों का विकसित प्रतिरूप है। इसका प्राचीनतम रूप हमें सिन्धु घाटी सभ्यता काल में देखने को मिलता है जहां से उसने निरन्तर प्रगति करते हुए युगों के अनेक उतार-चढ़ावों के थपेड़ों को सहन करते हुए आधुनिकता के परिवेश को प्राप्त किया है। अपने वर्तमान रूप में यह ब्रिटिश शासन के विकास से पूर्णरूपेण प्रभावित है तथापि भारत का प्राचीन हिन्दू युग राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से उन्नत माना जाता था। मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा के अवशेषों से आभास मिलता है कि उस युग में विभिन्न समुदायों की अपेक्षा एक एकीकृत साम्राज्य था। आर्यों ने अपना राजनीतिक संगठन एवं शासन प्रणाली वर्णों के अनुसार बनायी जो राजतन्त्र में परिणत हुई। भारतीय प्रशासन का प्रागैतिहासिक विवरण यद्यपि अधिक निश्चित नहीं है, तथापि इसे अतीत के गौरव की एक उल्लेखनीय झांकी अवश्य माना जाता है।

भारतीय लोक प्रशासन के विकास की लम्बी यात्रा में जहां अनेक साम्राज्य बने और बिगड़े वहां इसकी दो विशेषताएं निरन्तर कायम रहीं। ये विशेषताएं हैं, **प्रथम**, प्रशासनिक संगठन की संरचना में प्रारम्भिक इकाई के रूप में ग्राम का महत्व, और **द्वितीय**, प्रशासनिक संगठन में केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों में सामंजस्य। आज भी उक्त दोनों विशेषताएं भारतीय लोक प्रशासन में कायम हैं।

ऐतिहासिक कालक्रम की दृष्टि से भारतीय लोक प्रशासन के विकास को सुविधा की दृष्टि से निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है :

i. प्राचीनकालीन प्रशासन, 2. राजपूतकालीन प्रशासन, 3. सल्तनतकालीन प्रशासन, 4. मुगलकालीन प्रशासन, 5. ब्रिटिश काल में प्रशासन का विकास, 6. स्वातन्त्र्योत्तर प्रशासन।

1. प्राचीनकालीन प्रशासन

सिन्धु घाटी सभ्यता काल प्रशासन—सिन्धु घाटी सभ्यता काल प्रशासन (2250 ई. पूर्व से 1750 ई. पूर्व तक) का केवल अनुमान लगाया जा सकता है। लिखित साक्ष्यों के अभाव में सिन्धु सभ्यताकालीन राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्थिति का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है। ह्वीलर तथा पिगट का अभिमत है कि मोहनजोदड़ो और हड़प्पा साम्राज्य अच्छे ढंग से शासित साम्राज्य थे। सिन्धु घाटी की सभ्यता में सुनियोजित सड़कों तथा नालियों की व्यवस्था थी। इससे यह प्रतीत होता है कि नगरों में नगरपालिकाएं थीं, जो नगरों की समुचित व्यवस्था करती थीं। पिगट के अनुसार योजनाबद्ध निर्माण कार्य को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि नगरों में 'नगरपालिका' जैसी कोई संस्था अवश्य रही होगी। सिन्धु घाटी सभ्यता के सम्पूर्ण क्षेत्र में एक ही प्रकार के भवनों का निर्माण होता था, एक ही प्रकार की मूर्तियां बनायी जाती थीं, एक ही माप-तौल प्रचलित थी, एक ही लिपि का प्रचलन था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सम्पूर्ण सिन्धु प्रदेश एक ही विशाल साम्राज्य में संगठित था। इस प्रदेश में एक संगठन, एक व्यवस्था तथा एक शासन की सत्ता थी।

हण्टर का विचार है कि यहां शासन व्यवस्था राजतन्त्रात्मक नहीं वरन् लोकतन्त्रात्मक थी जबकि मैके के अनुसार मोहनजोदड़ो में एक प्रतिनिधि शासक प्रशासन करता था। ह्वीलर का विचार है कि मोहनजोदड़ो

की शासन व्यवस्था धर्मगुरुओं और पुरोहितों के हाथों में केन्द्रित थी जो जनप्रतिनिधियों के रूप में प्रशासनिक कार्य करते थे।

ऋग्वैदिक काल—ऋग्वैदिककालीन राजनीतिक व्यवस्था की सबसे छोटी इकाई 'कुटुम्ब' थी। परिवार का सबसे अधिक आयु वाला पुरुष कुटुम्ब का प्रधान होता था। कुटुम्ब के समस्त सदस्यों द्वारा 'प्रधान' की आज्ञा मानना परम आवश्यक था। अनेक कुटुम्बों के समूह को 'ग्राम' कहा जाता था। 'ग्राम' का एक अधिकारी होता था जिसे 'ग्रामणी' कहते थे। ग्रामणी का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता था क्योंकि वह 'ग्राम' का एकमात्र प्रशासनिक अधिकारी होता था। अनेक ग्रामों के समूह को 'विश' कहते थे, जिसके अधिकारी को 'विशपति' कहा जाता था। अनेक 'विश' मिलकर 'जन' की रचना करते थे। जन के प्रधान अधिकारी को 'गोप' कहते थे। गोप प्रायः 'राजा' ही हुआ करते थे। गोप का तत्कालीन प्रशासनिक व्यवस्था में अत्यधिक महत्वपूर्ण पद था।

ऋग्वैदिक काल में शासन व्यवस्था प्रमुखतया राजतन्त्रात्मक (Monarchial) थी, जिसका अध्यक्ष 'राजा' होता था। ऋग्वेद में गणों (Republics) का भी उल्लेख है, किन्तु राजतन्त्रों की ही संख्या अधिक थी। राजा निरंकुश न थे तथा राज्याभिषेक के समय प्रजा के हित में ही कार्य करने की उसे शपथ लेनी पड़ती थी। राजा का पद वंशानुगत था। राजा का सबसे पवित्र एवं सम्माननीय कार्य शत्रुओं से प्रजा की रक्षा करना था। ऋग्वैदिक राज्य अत्यन्त छोटे-छोटे थे। अतः कुछ ही कर्मचारियों से प्रशासन कार्य चल जाता था। इन अधिकारियों में 'पुरोहित' एवं 'सेनानी' का अत्यन्त महत्व था। ऋग्वैदिक कालीन राजाओं की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगाने वाली दो संस्थाएं—सभा एवं समिति थीं। लुडविग के अनुसार 'समिति' जनसाधारण की संस्था थी तथा 'सभा' होमरकालीन गुरुजन सभा के समान संस्था थी, जिसमें गिने-चुने लोग ही होते थे तथा राजा के साथ विचार-विमर्श कर सकते थे। ऋग्वेद में कानून के लिए 'धर्मन्' शब्द का प्रयोग मिलता है। न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी राजा ही होता था। उसकी सहायतार्थ पुरोहित होता था। ग्राम के न्यायाधीश को 'ग्राम्यवादिन' कहते थे। अपराधों के लिए कठोर दण्ड दिया जाता था। ऋण न चुकाने पर ऋणी व्यक्ति को, जिस व्यक्ति से ऋण लिया था, उसकी दासता करनी पड़ती थी। न्याय की दिव्य प्रणाली (Trial by Ordeal) अत्यधिकप्रचलित थी जिसमें गरम कुल्हाड़ी, अग्नि तथा जल का प्रयोग किया जाता था।

उत्तर-वैदिक काल—ऋग्वैदिक युग के पश्चात् के काल को उत्तर-वैदिक युग कहते हैं। इस युग की प्रमुख विशेषता शक्तिशाली राजाओं का उदय होना था। इस युग में यद्यपि राजा का पद पैतृक होता था, परन्तु कभी-कभी उसका निर्वाचन भी किया जाता था। उत्तर-वैदिक काल में, ऋग्वैदिक युग की अपेक्षा राजा के सहायतार्थ प्रशासनिक पदाधिकारियों की संख्या में वृद्धि हुई। राज्यों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए ऐसा होना स्वाभाविक ही था। प्रशासनिक व्यवस्था की सुविधा के लिए राज्य में अनेक विभागों की रचना की गयी थी जिनमें प्रमुख वित्त विभाग, निरीक्षण विभाग, आरक्षण एवं सेना विभाग, स्थानीय शासन विभाग थे। राजा मन्त्रियों की सहायता से प्रशासन करता था। मन्त्री का पद परम्परा एवं जनमत पर आधारित था। इन मन्त्रियों को उत्तर-वैदिक काल में 'रत्निन' कहते थे। राजा की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता पर प्रतिबन्ध लगाने वाली संस्थाएं 'सभा' एवं 'समिति' थीं। उत्तर-वैदिक काल में राज्यों की सीमाएं विस्तृत हो जाने के कारण इन संस्थाओं का प्रभाव ऋग्वैदिक काल की तुलना में कुछ कम हो गया था। न्याय व्यवस्था का सर्वोच्च अधिकारी राजा होता था तथा उसकी सहायतार्थ अन्य अधिकारी भी होते थे। न्यायाधीश को 'स्थपति' कहा जाता था। गांव में छोटे-छोटे अपराधों का 'ग्राम्यवादिन' नामक अधिकारी निर्णय करता था।

महाकाव्य काल—वैदिक काल की तुलना में राज्यों के स्वरूप में महाकाव्य काल तक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो चुका था। वैदिकयुगीन छोटे-छोटे राज्यों के स्थान पर विशाल साम्राज्यों की स्थापना हो चुकी थी, जिनके शासकों को 'सम्राट' कहा जाता था। महाकाव्य काल में कुछ गणतन्त्रों का अस्तित्व भी था, परन्तु प्रमुखतया राजतन्त्र ही विद्यमान थे।

राज्य का सर्वोच्च अधिकारी 'राजा' होता था। राजा प्रायः निरंकुश होने का प्रयास नहीं करते थे तथा लोक-कल्याण के कार्य व प्रजा की रक्षा करना उनके प्रमुख कर्तव्य थे। सम्राट को प्रशासन में सहायता देने के लिए दो संस्थाएं क्रमशः मन्त्रिपरिषद् व सभा होती थीं। मन्त्रिपरिषद् में लगभग 37 मन्त्री होते थे जो प्रत्येक वर्ण से चुने जाते थे। सभा में 18 सदस्य होते थे जो विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते थे। प्रशासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य को विभिन्न इकाइयों में विभाजित किया गया था। सबसे छोटी इकाई ग्राम थी जिसके ऊपर दशग्राम, विंशतिग्राम, शतग्राम, सहस्रग्राम तथा राज्य थे। इन इकाइयों के अधिकारियों को क्रमशः ग्रामिक,

विंशतिय, शतग्रामी, अधिपति व राजा कहते थे। इन पदाधिकारियों का कर्तव्य लगान वसूल करना, अपराधियों को दण्डित करना व अपने क्षेत्र में शान्ति बनाए रखना था। आय का प्रमुख साधन प्रजा से वसूल किए जाने वाले कर थे।

बौद्धकालीन राज्य तथा प्रशासनिक चिन्तन—बौद्ध साहित्य में महात्मा बुद्ध के आविर्भाव से पूर्व एवं उनके समय में महाजनपदों के अस्तित्व का पता चलता है। महात्मा बुद्ध के समय अनेक गणतन्त्रात्मक राज्य थे, जैसे, शाक्य, कोलिय, मौर्य, मल्ल, बुलि, लिच्छवि, विदेह, भग्ग, आदि। इन गणतन्त्रों के अतिरिक्त चार राजतन्त्र भी थे जो साम्राज्य विस्तार की भावना से प्रेरित होकर निरन्तर अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए संघर्षरत थे। ये राजतन्त्र थे मगध, अवन्ति, वत्स और कौशल।

बौद्ध साहित्य में बौद्धकालीन गणतन्त्रों का वर्णन है। बौद्ध ग्रन्थों में बौद्ध संघों की प्रजातान्त्रिक शासन व्यवस्था का विस्तृत विवरण है। बौद्धकालीन गणराज्यों में प्रशासन की वास्तविक शक्ति सभा में निहित होती थी जो संथागार में होती थी तथा छोटे-बड़े समान रूप से उसके सदस्य होते थे तथा समय-समय पर मिलकर राज्य की समस्याओं का समाधान करते थे। राज्य का एक अध्यक्ष भी होता था जिसे राजा कहते थे, जिसको चुनाव के द्वारा एक निश्चित अवधि के लिए नियुक्त किया जाता था। डॉ. जायसवाल के अनुसार राजा का चुनाव समस्त मन्त्रिगण एवं नागरिक एकत्रित होकर करते थे। राजाओं की संख्या बहुत बड़ी होती थी। डॉ. जायसवाल के अनुसार शासनाधिकार 7,707 नागरिकों को प्राप्त था तथा वे प्रधान, उपप्रधान, सेनापति एवं कोषाध्यक्ष बनते थे। सामन्तवादी प्रथा प्रचलित थी। प्रत्येक राजा एक सामन्त था जिसके पास कुछ जमींदारी थी जिसके प्रबन्ध के लिए वह सेनापति एवं भाण्डागारिक रखता था। इस प्रकार राज्य सामन्तों में बंटा हुआ था तथा प्रत्येक सामन्त ही सभा का सदस्य होता था जिसका अध्यक्ष ही वास्तविक शासक होता था। प्रो. डेविड्स के अनुसार गणराज्यों में शासन व्यवस्था और न्याय के कार्य सभा के द्वारा ही सम्पन्न होते थे। डॉ. मजूमदार के अनुसार, गणराज्यों की कार्य-प्रणाली निम्न प्रकार थी—(i) सभा में प्रस्ताव रखने के लिए निश्चित नियम बना दिए गए थे। प्रस्ताव साधारणतः तीन बार दोहराया जाता था और विरोध न होने पर स्वीकृत मान लिया जाता था। विरोध होने पर बहुमत का सहारा लिया जाता था; (ii) उलझी हुई समस्याएं विशिष्ट समितियों को सौंप दी जाती थीं; (iii) पूरक के नियम बने हुए थे। अनुपस्थित मताधिकारी का मत लेने के भी नियम थे।

डॉ. अल्तेकर के अनुसार, शाक्य गणराज्य में ग्राम की अपनी भी सभाएं होती थीं जिनका अधिवेशन ग्राम के संथागार में होता था। इनमें स्थानीय विषयों पर विचार किया जाता था। इस सभा में गांव के प्रत्येक परिवार को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता था। डॉ. डी. डी. शुक्ल ने इन गणतन्त्रों की शासन व्यवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है, "बौद्धकालीन गणराज्यों में भी सभा का महत्व कम नहीं था। सभा के कार्य बहुमत से होते थे। इस काल के राज्यों में महामात्य, वोहारिक, सूत्रधार, अट्ठकुल, सेनापति, उपराजा, आदि पदाधिकारियों का उल्लेख मिलता है और सम्भवतः ये पदाधिकारी न्याय एवं प्रशासनिक दोनों प्रकार के कार्य करते रहे होंगे। इस काल के गणराज्यों में ग्राम की व्यवस्था ग्राम सभाओं द्वारा होती थी.....।"

न्याय की इन गणतन्त्रों में पूर्ण व्यवस्था थी। इस काल में न्याय का कार्य सामाजिक एवं आर्थिक संगठनों में स्थापित कर दिया गया था। महापरिनिव्वान सुत्त की बुद्धघोष द्वारा की गयी टीका में वज्जियों की न्याय व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार उस समय इस गणतन्त्र में सात न्यायालय निम्न प्रकार थे : (1) विनिच्चयमहामात, (2) वोहारिक, (3) सुत्तधर, (4) अट्ठकुल, (5) सेनापति, (6) उपराजा, (7) राजा। इस ग्रन्थ के विवरण से ज्ञात होता है कि तत्कालीन न्याय व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक अपराधी पर क्रमानुसार सातों न्यायालयों में विचार किया जाता था। प्रत्येक न्यायालय को अधिकार था कि कथित अपराधी को निर्दोष प्रमाणित होने पर उसे मुक्त कर दे, परन्तु अपराधी पाए जाने पर उसको अपने उच्चतर न्यायालय में भेज दे। इस प्रकार अपराधियों को दण्ड राजा के द्वारा ही दिया जाता था जो कि न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होता था।

गौतम बुद्ध से जब पूछा गया कि गणराज्य की सफलता के लिए किन गुणों की आवश्यकता है अथवा कोई गणराज्य क्यों सफल होता है तो उन्होंने इसके लिए उत्तरदायी सात कारणों का उल्लेख किया—(1) जल्दी-जल्दी सभाएं करना तथा उनमें मताधिकार प्राप्त व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक भाग लेना; (2) राज्य के कार्यों को एकमत होकर सहयोगपूर्वक संचालित करना; (3) कानून का कभी उल्लंघन न करना तथा समाज-विरोधी कानूनों की रचना न करना; (4) वृद्ध व्यक्तियों के विचारों को महत्व देना तथा उनका

पर्याप्त सम्मान करना; (5) कन्याओं एवं स्त्रियों के साथ बलात्कार न करना; (6) अपने धर्म में दृढ़ विश्वास रखना; तथा (7) कर्तव्य-परायण रहना। तत्कालीन वज्जियों के गणराज्य में ये सभी गुण पाए जाते थे।

कुछ भी हो बुद्ध के युग में राज्यों पर वंशगत राजा नहीं बल्कि गणसभाओं के प्रति उत्तरदायी व्यक्ति शासन करते थे। अतः प्राचीन गणराज्यों में रहने वाले लोगों का राजनीतिक सत्ता में बराबरी का हिस्सा भले न रहा हो परन्तु भारत में गणतन्त्र की परम्परा उतनी ही पुरानी है जितना बुद्ध का युग।

मौर्य शासन—मौर्य काल में भारत ने पहली बार राजनीतिक एकता प्राप्त की तथा एक विशाल साम्राज्य पर मौर्य शासकों ने शासन किया। इस विशाल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले अनेक ऐतिहासिक स्रोत उपलब्ध हैं जिनसे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य न केवल एक महान् विजेता वरन् एक योग्य प्रशासक भी था। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र', मैगस्थनीज की 'इण्डिका', अशोक के शिलालेख व अनेक यूनानी रचनाओं से मौर्य शासन प्रणाली के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने गुरु, मित्र व प्रधानमन्त्री चाणक्य की सहायता से जिस शासन प्रणाली को प्रारम्भ किया, उल्लेखनीय है कि लगभग दो हजार वर्षों के उपरान्त अंग्रेजों ने भी लगभग उसी शासन प्रणाली को भारत में प्रतिस्थापित किया।

मौर्य साम्राज्य का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था, अतः शासन का प्रधान राजा होता था। राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली में राजा का योग्य होना अत्यन्त आवश्यक है। इसी कारण कौटिल्य ने इस बात को अत्यधिक महत्व दिया है। 'अर्थशास्त्र' में उसने लिखा है, "राजा का जो शील होता है वही प्रजा का भी होता है। यदि राजा परिश्रमी और उन्नतिशील हो तो प्रजा भी उन्नतिशील हो जाती है। राजा दुर्व्यसनी हो तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है।" अतः कौटिल्य ने राजा में निम्नलिखित गुणों का होना परम आवश्यक बताया है—"वह (राजा) ऊंचे कुल का हो, उसमें दैवीय बुद्धि व शक्ति हो, वह वृद्धजनों की बात सुनने वाला हो, धार्मिक व सत्यवादी हो, परस्पर विरोधी बातें न करने वाला हो.....उसका लक्ष्य ऊंचा हो।"

मौर्य काल में सिद्धान्त के रूप में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति राजा के हाथों में ही केन्द्रित थी, किन्तु व्यवहार में अनेक प्रतिबन्धों के कारण ऐसा नहीं था। राजा की शक्ति व निरंकुशता सीमित थी। विशाल मन्त्रिपरिषद् व प्राचीन परम्पराओं के पालन ने मौर्य शासकों की निरंकुशता पर सदैव अंकुश लगाए रखा। मौर्य शासक के कर्तव्यों के विषय में कौटिल्य ने लिखा है, "अपनी प्रजा के हित में निरन्तर कार्य करना ही राजा का व्रत है, प्रशासन का कार्य ही उसके लिए उच्चतम धार्मिक कल्प है, सबके साथ समानता का व्यवहार करना ही उसका सर्वोच्च दान है।"

राजा के प्रमुखतः तीन कर्तव्य थे—शासन सम्बन्धी, न्याय सम्बन्धी व सैनिक। शासक की हैसियत से वह राज्य के अधिकारियों की नियुक्ति करना, अर्थ विभाग के कागजों को देखता, विदेशी राजदूतों से विचार-विमर्श करता, अपने राजदूत अन्य देशों को भेजता तथा प्रजा व राजकीय अधिकारियों को आदेश भेजता था। न्यायाधीश के रूप में, देश का सर्वोच्च अधिकारी होने के कारण, अपनी सभा में नीचे के न्यायालयों से आए हुए मामलों के बारे में निर्णय देता। सैनिक कर्तव्यों के पालन के लिए वह युद्ध के समय स्वयं सेना का संचालन करता तथा शान्ति के समय सैन्य संगठन व साम्राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था करता था।

राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होती थी। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने लिखा है, "राज्यरूपी रथ एक पहिये (राजा) के द्वारा नहीं चल सकता, अतएव दूसरे पहिये के रूप में उसे मन्त्रिपरिषद् की आवश्यकता होती है।" इस मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को राजा ही नियुक्त करता था। कौटिल्य ने लिखा है, "राजा उन व्यक्तियों को मन्त्री नियुक्त करेगा, जो उच्च कुल में उत्पन्न हुए हों, वीर, बुद्धिमान, ईमानदार व स्वामिभक्त हों।" इस मन्त्रिपरिषद् में साधारणतया 12 से 20 तक मन्त्री होते थे। मन्त्रिपरिषद् का मुख्य कार्य राजा को परामर्श देना होता था, किन्तु उस परामर्श को स्वीकार करने के लिए राजा बाध्य न था। मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक अन्य छोटी उपसमिति भी होती थी जिसमें साधारणतया तीन अथवा चार मन्त्री होते थे। इसे 'मन्त्रिणः' कहा जाता था। ऐसे विषयों में जिसमें तुरन्त निर्णय लेना हो राजा 'मन्त्रिणः' से विचार-विमर्श करता था तथा बाद में मन्त्रिपरिषद् की बैठक को आमन्त्रित करता था। राजा साधारण तौर पर मन्त्रिणः व मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से ही कार्य करता था। मन्त्रिपरिषद् की बैठक जिस भवन में होती थी उसे 'मन्त्र भूमि' कहते थे। डॉ. आर. सी. मजूमदार ने मौर्यकालीन मन्त्रिपरिषद् की तुलना इंग्लैण्ड की प्रिवी कौन्सिल से की है।

मन्त्रिपरिषद् व राजा के द्वारा मुख्यतया नीति निर्धारण का कार्य किया जाता था, तत्पश्चात् उन नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही (Bureaucracy) के द्वारा किया जाता था। मौर्यकालीन

नौकरशाही अत्यधिक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित थी तथा विशाल साम्राज्य के प्रशासनिक कार्यों को सुगमतापूर्वक करती थी। मौर्य काल में प्रशासन की सुविधा के लिए 18 विभागों की स्थापना की गयी थी जिन्हें 'तीर्थ' कहते थे। प्रत्येक विभाग के संचालन व निरीक्षण के लिए एक अध्यक्ष होता था जिसे 'आमात्य' कहा जाता था। 'आमात्य' अपने विभाग का सर्वोच्च अधिकारी होता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निम्नलिखित 18 आमात्यों का वर्णन मिलता है : (1) मन्त्री एवं पुरोहित, (2) समाहर्ता, (3) सन्निधाता,(4) सेनापति, (5) युवराज, (6) प्रदेष्टा, (7) व्यावहारिक, (8) नायक, (9) कार्मान्तिक, (10) मन्त्रि-परिषदाध्यक्ष, (11) दण्डपाल, (12) अन्तपाल, (13) दुर्गपाल, (14) पौर, (15) प्रशास्ता, (16) दौवारिक, (17) आन्तर्वशिक, (18) आटविक।

प्रशासनिक सुविधा को ध्यान में रखते हुए मौर्य शासकों ने अपने साम्राज्य को 6 प्रान्तों में विभक्त किया था। इन प्रान्तों को 'चक्र' कहा जाता था। इन 'चक्रों' पर शासन करने के लिए साधारणतः राजवंशीय व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था जिन्हें 'कुमार' कहा जाता था। ये 'कुमार' अपने अधीन महामन्त्रियों की सहायता से 'चक्र' में शासन करते थे।

प्रत्येक प्रान्त अनेक मण्डलों मे विभक्त होता था जिनमें महामात्य शासन करते थे। प्रत्येक मण्डल पुनः विभिन्न जनपदों में विभक्त होता था। जिसका प्रधान अधिकारी समाहर्ता होता था। प्रत्येक जनपद प्रशासन की सुविधा के लिए पुनः अनेक नगरों में विभक्त होता था। प्रत्येक जनपद की सबसे छोटी प्रशासनिक इकाई ग्राम होती थी। 10 ग्रामों के समूह को संग्रहण, 20 ग्रामों के समूह को खार्वटिक, 440 ग्रामों के समूह को द्रोणमुख व 800 ग्रामों के समूह को स्थानीय कहते थे।

प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी जिसका अधिकार ग्रामिक कहलाता था। ग्रामिक ग्राम सभा का भी प्रधान होता था तथा उसका निर्वाचन गांववासियों के द्वारा ही किया जाता था। गांव एक प्रकार से छोटे-छोटे अर्द्ध-स्वायत्त प्रजातन्त्र थे। इस विषय में डॉ. राधाकुमुद मुकर्जी ने लिखा है कि प्रत्येक ग्राम स्वशासित था। केन्द्र उनके मामलों में बहुत कम हस्तक्षेप करता था।

मौर्यकालीन नगर प्रशासन अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं उच्च कोटि का थां। नगर का प्रधान अधिकारी 'नागरिक' होता था जिसके अधीन स्थानिक व गोप आदि अधिकारी होते थे। कौटिल्य व मैगस्थनीज ने नगर प्रशासन का विस्तृत विवरण किया है जिससे पता चलता है कि प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न नियम बने हुए थे जिनका पालन करना जनता के लिए अनिवार्य था। गृह-निर्माण, सफाई-व्यवस्था, अग्नि को फैलने से रोकने, मदिरालयों, आदि सभी के लिए नियम थे। नगरों में जल-व्यवस्था, सड़कों की स्थिति, भूमिगत मार्गों की सही स्थिति, आदि का नागरिक पूरा ध्यान रखता था।

मैगस्थनीज ने लिखा है कि पाटलिपुत्र नगर के प्रशासन के लिए 30 सदस्यों की एक नगर सभा होती थी जो पांच-पांच सदस्यों की छः समितियों में विभक्त थी, जिनके नाम थे— (1) शिल्प कला समिति, (2) वैदेशिक समिति, (3) जनसंख्या समिति, (4) वाणिज्य समिति, (5) उद्योग समिति, तथा (6) कर समिति।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मौर्य काल में नगर का प्रशासन अत्यन्त सुव्यवस्थित था। इसी कारण इस विषय में डॉ. आर. के. मुकर्जी ने लिखा है, "कौटिल्य ने एक पूरी प्रणाली बतायी है, जिसके आधार पर नगरों का प्रशासन व्यवस्थित किया जाता था। यह प्रणाली पौर (नगर) जीवन की विशिष्ट समस्याओं तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर तैयार की गयी थी।"

मौर्य काल में न्याय व्यवस्था अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं उच्च कोटि की थी। न्याय के लिए अनेक न्यायालय होते थे। सबसे ऊपर राजा का न्यायालय होता था जिसका निर्णय अन्तिम एवं सर्वमान्य होता था। न्याय प्रशासन के अन्तर्गत सबसे छोटा न्यायालय ग्राम का होता था जिसमें 'ग्रामिक' ग्राम सभा की सहायता से निर्णय देता था। ग्राम न्यायालय से ऊपर संग्रहण, द्रोणमुख, स्थानीय व जनपद के न्यायालय होते थे। जनपद न्यायालय के ऊपर पाटलिपुत्र स्थित केन्द्रीय न्यायालय होते थे, जिसके ऊपर राजा का न्यायालय होता था। ग्राम एवं राजा के न्यायालय के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालय दो प्रकार के होते थे : धर्मस्थीय व कंटकशोधन न्यायालय।

राजस्व प्रशासन, प्रशासन का अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग था। कौटिल्य ने स्वयं कहा है कि सम्पूर्ण कार्य 'कोष' पर निर्भर करते हैं, अतः राजा को सबसे अधिक कोष बढ़ाने पर ध्यान देना चाहिए। मौर्य काल में राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमि-कर था। आधुनिक युग के समान बिक्री-कर की व्यवस्था थी, आयात व निर्यात कर भी लिया जाता था। अर्थाभाव में राजा राज कोष को भरने के लिए अतिरिक्त कर भी लगा सकता

था। राजस्व विभाग का सर्वोच्च अधिकारी समाहर्ता होता था। जिसके अधीन शुल्काध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, आदि अनेक कर्मचारी कार्य करते थे।

यदि हम कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के साक्ष्य को स्वीकार करके चलें तो पाएंगे कि एक विशाल और जटिल नौकरशाही की स्थापना मौर्य शासन की उल्लेखनीय विशेषता थी। एक स्थल पर कौटिल्य ने अठारह तीर्थों का उल्लेख किया है। शायद ये अठारह तीर्थ ही महामात्य या उच्चाधिकारी कहे गए हैं। अशोक के साम्राज्य के हर बड़े नगर और प्रत्येक जिले में एक महामात्य होता था। उन्हें शहरी, देहाती और सीमावर्ती तीनों प्रकार के क्षेत्रों का प्रशासन संभालने का काम दिया जाता था।

यह नौकरशाही पूरी तरह श्रेणीबद्ध थी, इसका आभास विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों के वेतनमानों से मिलता है। मन्त्री, पुरोहित, सेनापति तथा युवराज जैसे उच्चतम पदाधिकारियों का वेतन निर्धारित करने में बड़ी उदारता बरती गई है। कुछ अधिकारियों को तो 48,000 पण तक वेतन देने की व्यवस्था है जबकि एक पण में 3/4 चांदी होती थी।

नौकरशाही सब कुछ राजशक्ति की पहुंच के अन्दर ले आई, लेकिन इस शक्ति को वास्तविक ओज राज्य की दण्डशक्ति के अभूतपूर्व विकास के फलस्वरूप प्राप्त हुआ। यदि हम 'अर्थशास्त्र' के साक्ष्य के अनुसार देखें तो स्वीकार करना होगा कि पुलिस तथा दण्ड प्रशासन की कार्यकुशल प्रणाली का विकास सबसे पहले मौर्यों ने ही किया। इस प्रणाली के आधार का काम विस्तृत गुप्तचर व्यवस्था करती थी। शहरी परिवेश में सामान्यतः जिस प्रकार के आर्थिक अपराध होते हैं, वैसे बहुत-से अपराधों के निवारण के लिए कंटकशोधन का संगठन किया गया था। इस संगठन की बहुत-सी व्यवस्थाओं का उद्देश्य माप-तौल के गलत पैमानों का इस्तेमाल करने वाले और ऊंची कीमतें वसूल करने वाले कारीगरों तथा व्यापारियों के क्रियाकलाप पर अंकुश रखना था। दण्ड व्यवस्था का संगठन कौटिल्य की कृति की एक बहुत बड़ी विशेषता है।

डॉ. रामशरण शर्मा के शब्दों में, "मौर्य शासन अत्यन्त केन्द्रीकृत था.....हमारे सभी अध्ययन स्रोत केन्द्रीकृत नौकरशाही नियन्त्रण का स्पष्ट संकेत देते हैं। सुगठित पुलिस तथा सैनिक संगठन और राजस्विक तन्त्र के साथ मिलकर केन्द्रीकरण की इस प्रवृत्ति ने राजसत्ता को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की जिसकी अभिव्यक्ति **'शासन'** से हुई।"

इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने मन्त्री कौटिल्य की सहायता से अत्यन्त सक्षम, सुनियोजित एवं सुसंगठित शासन प्रणाली की स्थापना की थी। मौर्यकालीन प्रशासन व्यवस्था का वर्णन करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने 'हिन्दुस्तान की कहानी' में लिखा है : "एक काफी फैली हुई और कड़ी नौकरशाही थी.....खेती पर बहुत तरीकों से कड़े नियन्त्रण लगे हुए थे और यही हालत सूद के दर की थी। खाने की चीजों, मण्डियों, कारखानों, कसाईखानों, पशुओं की नस्लकशी, शिकार, वेश्याओं और शराबखानों पर बंदिशें लगी हुई थीं। मापें और तौलें सब जगहों के लिए एक-सी कर दी गई थीं। खाने की चीजों में मिलावट करने पर कड़ी सजाएं मिलती थीं। व्यापार पर कर लगा हुआ था और इसी तरह धर्म के कामों पर भी। अगर अमीर लोग गबन करते थे या कौमी संकटों से फायदा उठाते थे तो उनकी जायदाद जब्त कर ली जाती थी। सरकार की तरफ से विधवाओं, यतीमों, बीमारों और कमजोरों को मदद दी जाती थी। अकाल से बचाने की खास जिम्मेदारी शासन की होती थी।"[1] स्मिथ ने मौर्य शासन प्रणाली की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "मौर्य शासन प्रणाली विस्तृत रूप से नियोजित की गयी थी जिसमें अनेक विभाग तथा अधिकारी थे, जिनके कार्य पूर्णतः स्पष्ट कर दिए गए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रशासन अकबर के शासन काल में मुगल साम्राज्य के प्रशासन से कहीं अधिक संगठित था।"

गुप्त प्रशासन—गुप्तकालीन शासन व्यवस्था पर समकालीन अभिलेखों व साहित्यिक स्रोतों से विस्तृत प्रकाश पड़ता है। गुप्त राजाओं ने अपने पूर्वगामी शासकों के शासन प्रबन्ध को अपनाते हुए उसमें कुछ आवश्यक परिवर्तन कर समयानुकूल बनाया।

गुप्तकाल में राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली कार्यरत थी, अतः सम्राट ही प्रत्येक विभाग का सर्वोच्च अधिकारी था। गुप्तकाल में राजा को देव-तुल्य तथा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकार किया जाता था। गुप्त शासक शास्त्रों द्वारा निर्देशित मार्ग का अनुसरण करने वाले लोकोपकारी शासक थे। राजा को प्रशासनिक

1 जवाहरलाल नेहरू, **हिन्दुस्तान की कहानी** (संक्षिप्त), 1989, पृ. 134-142.

कार्यों में सहायता देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद् होती थी जिसके सदस्यों को आमात्य, सचिव अथवा मन्त्री कहा जाता था। मन्त्रियों की नियुक्ति राजा ही करता था। मन्त्रिपरिषद् के परामर्श को स्वीकार करने के लिए राजा बाध्य न था, किन्तु प्रायः राजा इसी परामर्श के आधार पर ही कार्य करते थे।

गुप्त शासन प्रणाली में नौकरशाही का विशेष महत्व था। केन्द्रीय शासन विभिन्न विभागों द्वारा संचालित होता था जिनके अध्यक्ष उच्च पदाधिकारी होते थे। गुप्तकाल में 'कुमारामात्य' नामक एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। डॉ. अल्तेकर के अनुसार कुमारामात्य आधुनिक आई. ए. एस. अधिकारियों के समान अधिकारियों का सर्वश्रेष्ठ वर्ग था। अन्य केन्द्रीय कर्मचारियों में प्रमुख सर्वाध्यक्ष, महाप्रतीहार, महासेनापति, रणभण्डागारिक, दण्डपाशिक, विनयस्थितिस्थापक, अग्रहारिक, गौल्मिक, शाल्किक, ध्रुवाणिक, आदि थे। कर्मचारियों को वेतन प्रायः नकद दिया जाता था।

देश में आन्तरिक शान्ति एवं सुरक्षा के लिए पुलिस विभाग था। इस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी 'दण्डपाशिक' होता था। डॉ. अल्तेकर ने 'दण्डपाशिक' की तुलना आधुनिक पुलिस अधीक्षक से की है। गुप्तकाल में सम्भवतः पुलिस विभाग अत्यन्त सक्षम था, क्योंकि फाह्यान ने लिखा है कि भारत में अपराध बहुत कम होते हैं व चोरी-डकैती का भय नहीं रहता था।

राज्य की आय का मुख्य स्रोत भूमि कर था। स्मृतियों से ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में न्यायालयों की चार श्रेणियां—कुल, श्रेणी, पुग व राजा का न्यायालय था। राजा का निर्णय अन्तिम व सर्वमान्य होता था।

प्रशासनिक सुविधा के उद्देश्य से गुप्त साम्राज्य को अनेक प्रान्तों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक प्रान्त को भुक्ति, देश, भोग, आदि कहा जाता था। प्रत्येक भुक्ति अनेक 'विषयों' में विभक्त था। 'विषय' आधुनिक जनपद के समान था। विषय का सर्वोच्च अधिकारी 'विषयपति' कहलाता था। प्रत्येक विषय के अन्तर्गत अनेक नगर होते थे। नगर का अधिकारी 'नगरपति' कहलाता था। नगर की व्यवस्था के लिए एक परिषद् होती थी जो आधुनिक नगरपालिका के समान थी। प्रशासन की न्यूनतम इकाई ग्राम थी। प्रत्येक नगर अनेक ग्रामों में विभक्त था। प्रत्येक ग्राम का अधिकारी 'ग्रामिक' कहलाता था। ग्रामिक की सहायतार्थ एक समिति होती थी जिसे 'ग्राम सभा' कहते थे। ग्राम सभा का प्रमुख कार्य मुकदमों का निर्णय, भूमि की सीमा का निर्धारण, सार्वजनिक हित के कार्य, कृषि और सिंचाई की उचित व्यवस्था करना था।

प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. रामशरण शर्मा के अनुसार गुप्त नौकरशाही उतनी विशाल और सुसंगठित नहीं जितनी मौर्य नौकरशाही थी। जिस संवर्ग से बड़े-बड़े अधिकारी लिए जाते थे, वह कुमारामात्यों का संवर्ग था। जिसे मौर्यकालीन महामात्यों तथा सातवाहनयुगीन आमात्यों के संवर्गों का समानान्तर माना जा सकता है। साम्राज्य के केन्द्रीय प्रदेशों में अधिकांश अधिकारियों की नियुक्ति स्वयं राजा करता था और शायद उन्हें नकद वेतन दिया जाता था।

गुप्तकाल में ग्राम प्रशासन में अनेक नए आयाम जुड़ गए। मौर्यकाल में गोप नामक राज्य कर्मचारी गांव की व्यवस्था की देख-रेख बड़ी सजगता से करता था। अब राज्य की ओर से ऐसा कुछ नहीं किया जाता था और न ही गृहस्थियों का पंजीयन ही होता था। गांव के मामलों का प्रबन्ध महत्तरों अर्थात् बड़े बुजुर्गों की सहायता से ग्रामप्रधान करता था। कभी-कभी विषय के प्रशासन में भी महत्तरों का सहयोग लिया जाता था। गुप्त अभिलेखों से यह भी प्रकट होता है कि गांव या वीथी कहे जाने वाले कस्बों के प्रशासन में प्रमुख स्थानीय लोगों का भी हाथ रहता था। उनकी अनुमति के बिना जमीन का कोई सौदा नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार जहां मौर्यकाल में गांव की व्यवस्था ऊपर से की जाती थी, जान पड़ता है, गुप्तकाल में नीचे से की जाती थी।

चूंकि साम्राज्य के बहुत-से प्रशासनिक मामलों की व्यवस्था सामन्त तथा अनुदानभोगी लोग करते थे, इसलिए गुप्त राजाओं को उतने अधिकारियों की जरूरत नहीं थी जितनी की मौर्यों को थी। इसके अतिरिक्त, राज्य आर्थिक मामलों में कोई विशेष दखल नहीं देता था। इससे भी उतने अधिक अधिकारियों की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। मौर्यकाल के विपरीत हम कारीगरों, व्यापारियों और महत्तरों को ग्रामीण तथा शहरी प्रशासन में हाथ बंटाते देखते हैं। इससे भी विशाल प्रशासनिक कर्मचारीवृंद रखने की आवश्यकता बहुत कम हो गयी। गांवों ने बहुत अधिक सत्ता प्राप्त कर ली, जिससे केन्द्र के लिए करने हेतु बहुत कम बच गया। इसलिए गुप्तों को मौर्यों जितनी बड़ी नौकरशाही की न जरूरत थी और न उन्होंने ऐसी नौकरशाही खड़ी ही की और गुप्त

राजाओं की प्रबल सैन्य-शक्ति के बावजूद गुप्तकाल में जो संस्थागत तत्व विकेन्द्रीकरण की दिशा में काम क रहे थे, वे इस तरह के प्रागुगुप्तकालीन तत्वों से कहीं अधिक प्रवल थे।

संक्षेप में, गुप्त शासकों ने अत्यन्त उच्च कोटि की प्रशासनिक व्यवस्था को कार्यान्वित कर अपने विशा साम्राज्य पर सुचारु रूप से शासन किया। इस कुशल प्रशासनिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप ही जनता आर्थि रूप से समृद्ध थी। फाह्यान ने लिखा है, "भारतवर्ष के लोग सुखी एवं समृद्ध हैं.....गुप्तकाल में कहीं भ चोरी-डकैती का भय नहीं था।" वह आगे लिखता है : शासन प्रवन्ध सुव्यवस्थित था, शासन उदार व सौम्य था, भारतीय दण्ड व्यवस्था के कानून भी सरल व उदार थे; अपराधों की गुरुता के आधार पर उनको दण्ड किया जाता था, प्राण-दण्ड नहीं दिया जाता था।

डॉ. अल्तेकर ने गुप्त प्रशासन की प्रशंसा करते हुए लिखा है, "गुप्तकालीन शासन प्रणाली तथा उसकी उपलब्धियों के विषय में हमारे पास विस्तृत सामग्री है जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह केन्द्र व प्रान्त दोनों में अत्यन्त सुव्यवस्थित थी।" गुप्त शासन ने जो शक्ति एवं समृद्धि स्थापित की वह कला, साहित्य, दर्शन और विज्ञान के साथ आश्चर्यजनक विकास का कारण वनी। अतएव हम गुप्त प्रशास पर गर्व कर सकते हैं जो तत्कालीन तथा बाद के राज्यों के लिए आदर्श वना।

2. राजपूतकालीन प्रशासन

राजपूत काल में राजा शासन का सर्वेसर्वा होता था। राजा का पद वंश परम्परागत होता था। कानून न्याय और शासन तीनों ही दृष्टि से राजा श्रेष्ठ होता था। राजा को परामर्श देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल होत था। मन्त्री अपने-अपने विभागों का प्रबन्ध करते थे। प्रत्येक राज्य में एक पुरोहित भी होता था, जिसका प मन्त्री के समान होता था। अनेक उच्च श्रेणी के अधिकारी भी होते थे। यथा, प्रतिहार, सेनाधिपति, आक्षपाटलिक भिषक, नैमित्तिक और कृत। ये सब अधिकारी राजधानी में रहते थे और राजा के साथ इनका सीधा सम्बन्ध था

राज्य प्रान्तों में विभक्त होता था। प्रायः युवराज या राजघराने के व्यक्तियों को ही प्रान्त में शासक वनाया जाता था। प्रान्त विभागों में विभक्त होता था। प्रत्येक विभाग का एक अधिकारी होता था तथा उसके अधीन वहुत-से कर्मचारी होते थे। विभाग का अधिकारी मालगुजारी एकत्र करने, न्याय करने और शान्ति व्यवस्था वनाए रखने का कार्य करता था। कोतवाल जैसा एक पुलिस अधिकारी प्रत्येक विभाग या जिले में रहता था।

ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई थी। ग्राम का प्रवन्ध ग्राम सभाओं के हाथ में था। प्रत्येक ग्राम की एक सभा होती थी जो अपने क्षेत्र में शासन का सब कार्य संभालती थी। स्थान और काल-भेद से ग्राम सभाओं के संगठन भिन्न-भिन्न थे। ग्राम सभा के अधिवेशन की अध्यक्षता ग्रामणी नामक कर्मचारी करता था। शासन की सुविधा हेतु अनेक समितियों का निर्माण किया जाता था तथा उन्हें विविध प्रकार के कार्य सौंपे जाते थे। ग्राम के क्षेत्र के झगड़े निपटाना, वाजार का प्रवन्ध करना, कर वसूल करना, जलाशयों, खेतों, चरागाहों, आदि की देखभाल करना, मार्गों को ठीक हालत में रखना, आदि कार्य ग्राम सभाओं के कार्यक्षेत्र में दिए हुए थे। शत्रुओं और डाकुओं से गांव की रक्षा करना ग्राम संस्थाओं का कार्य था। ग्राम संस्था ग्राम क्षेत्र से राज्य के लिए वसूल किए जाने वाले करों को एकत्र करने के लिए भी उत्तरदायी थी। नगर का प्रवन्ध करने के लिए पट्टनाधिकारी नामक अधिकारी होता था। यह अधिकारी वे सभी कार्य करता था जो आजकल नगरपालिका के कार्यपालिका अधिकारी करते हैं।

3. सल्तनतकालीन प्रशासन

सल्तनत काल का प्रशासन मूलतः सैनिक प्रशासन था। दिल्ली के सुल्तान निरंकुश स्वेच्छाचारी शासक थे। दिल्ली के सुल्तानों को अपने शासन के प्रारम्भ से ही अधिकारियों की एक व्यवस्थित शृंखलायुक्त व्यवस्था करनी पड़ी।

सल्तनत में सुल्तान का पद सवसे अधिक महत्वपूर्ण था और सव राजनीतिक, कानूनी और सैनिक अधिकार उसे प्राप्त थे। वह राज्य की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी था। इसी प्रकार वह प्रशासन के लिए भी उत्तरदायी था और सेनाओं का सर्वोच्च सेनापति था। वह कानून और न्याय व्यवस्था के लिए भी उत्तरदायी

था। इस उत्तरदायित्व को निभाने के लिए वह न्यायाधीशों की नियुक्ति करता था। सुल्तान स्वयं प्रधान न्यायाधीश का काम करता था और अन्य न्यायाधीशों के फैसलों के विरुद्ध सुनवाई करता था।

शुरू-शुरू में भारत में तुर्की प्रशासन पूर्णतः सैनिक प्रशासन था। देश को कई 'इक्तों' (इलाकों) में बांट दिया गया था और उन्हें प्रमुख सेनापतियों को सौंप दिया गया था। ये सेनापति जो 'इक्तादार' कहलाते थे। अपने इलाके में कानून और व्यवस्था बनाए रखने के साथ-साथ सरकार का देय भूमि-कर भी वसूल करते थे। इसी एकत्रित धन से वे प्रशासन और अपने अधीनस्थ सैनिकों के वेतन, आदि पर खर्च करते थे, जो उन्हें राज्य की सेवा के लिए रखने पड़ते थे।

'इक्तादार' अपने इलाके के स्वामी नहीं होते थे। उनका कार्यकाल शासक के उनसे प्रसन्न रहने तक ही होता था। इक्तादार का एक स्थान से दूसरे स्थान पर तवादला भी हो सकता था।

सुल्तान की मदद के लिए मन्त्री होते थे जिनकी नियुक्ति सुल्तान स्वयं करता था और वे सुल्तान के प्रसन्न रहने तक अपने पद पर बने रह सकते थे। प्रशासन में प्रमुख पद 'वजीर' का था। प्रारम्भ में 'वजीर' कोई सेनापति ही होता था। 14वीं शताब्दी में 'वजीर' को कर विशेषज्ञ माना जाने लगा था और उसके अन्तर्गत आय एवं व्यय का लेखा-जोखा करने वाला एक बड़ा विभाग आ गया था। मुहम्मद तुगलक कर विभाग की व्यवस्था पर बहुत ध्यान देता था। उसके वजीर ख्वाजा जहाँ का सम्मान दूर-दूर तक होता था और मुहम्मद तुगलक जब भी विद्रोहों को दबाने के लिए बाहर जाता था, राजधानी की देखभाल भी वही करता था। व्यय का परीक्षण करने के लिए एक महालेखा परीक्षक और आय का परीक्षण करने के लिए एक महालेखाकार था। ये दोनों वजीर के नीचे काम करते थे।

'वजीर' के बाद राज्य का सबसे महत्वपूर्ण विभाग दीवान-ए-अर्ज अथवा सैनिक विभाग था। इस विभाग का अध्यक्ष 'आरिज-ए-मुमालिक' कहलाता था। 'आरिज' सेना का सर्वोच्च सेनापति नहीं होता था क्योंकि सेना की कमान स्वयं सुल्तान के हाथ में होती थी। आरिज के विभाग का प्रमुख कार्य सेना की भर्ती, उसे अस्त्र-शस्त्र से लैस करना और उसमें वेतन बांटना होता था। भारत में 'आरिज' के विभाग की स्थापना सबसे पहले बलबन ने की थी। बाद में अलाउद्दीन खिलजी ने इस विभाग के कार्यकलापों पर विशेष ध्यान दिया। अलाउद्दीन खिलजी ने सेना की नियमित हाजिरी पर बहुत बल दिया। उसने ही सबसे पहले घोड़ों को दागने की प्रथा चलाई ताकि सैनिक घटिया किस्म के घोड़े न ले आएं। हर सैनिक का विस्तृत लेखा भी रखा जाता था। अलाउद्दीन ही पहला सुल्तान था जो सेना का सारा वेतन नकद देता था। उससे पहले तुर्क सैनिकों को वेतन का भुगतान करने के लिए दोआब में कुछ गांव दे दिए जाते थे। इन सैनिकों ने इन गांवों पर अपना अधिकार वंशानुगत मान लिया था और शासन की सेवा करने के लिए बहुत बूढ़े और कमजोर होने पर भी अपने पद छोड़ने को तैयार नहीं होते थे।

इनके अतिरिक्त दो महत्वपूर्ण विभाग और थे : 'दीवान-ए-रिसालत' और दूसरा 'दीवान-ए-इंशा'। पहला धार्मिक मामलों, पवित्र संस्थानों तथा योग्य विद्वानों और साधु-पीर, आदि को वजीफे देने का काम देखता था। इसका अध्यक्ष प्रमुख 'सदर' होता था जो अधिकतर मुख्य काजी होता था। मुख्य काजी न्याय विभाग का अध्यक्ष भी होता था। काजी मुस्लिम कानून (शरीयत) पर आधारित नागरिक कानून की देखभाल करते थे। हिन्दू अपने वैयक्तिक विधान के अन्तर्गत आते थे जिनके आधार पर गांवों में पंचायतें और नगरों में विभिन्न जातियों के मुखिया निर्णय करते थे। अपराध कानून सुल्तान द्वारा बनाए गए नियमों पर आधारित था।

'दीवान-ए-इंशा' राज्य के पत्र-व्यवहार का कार्य करता था। सुल्तान तथा अन्य प्रभुतासम्पन्न शासकों के बीच और अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ सारा औपचारिक और गोपनीय पत्र-व्यवहार उसका उत्तरदायित्व था।

इनके साथ-साथ कई और विभाग थे। शासक साम्राज्य के विभिन्न भागों में हो रही गतिविधियों की खोज-खबर रखने के लिए जासूसों की नियुक्ति करता था। ये जासूस 'वरीद' कहलाते थे। केवल वही सामन्त 'मुख्य वरीद' बनाया जाता था, जो शासक का सबसे अधिक विश्वासपात्र होता था। फिरोज तुगलक ने गुलामों के मामलों के लिए एक अलग विभाग बनाया था। इन दासों में से अनेक शाही कारखानों में काम करते थे। इन कामों की देखभाल करने वाला अधिकारी 'वकील-ए-दर' कहलाता था। फिरोज ने लोक निर्माण का एक अलग विभाग भी खोला। इस विभाग ने नहरें खुदवाई और लोक भवनों का निर्माण करवाया।

यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दिल्ली सल्तनत में प्रशासन प्रणाली और देश में उससे पूर्व की शासन प्रणाली में कई समानताएं थीं। दोनों प्रणालियों में शासक ही कार्यकारिणी और सेनाओं का प्रमुख होता था

तथा न्याय का स्रोत माना जाता था। दोनों प्रणालियों में उसकी सहायता के लिए मन्त्रिमण्डल होते थे। शासन चलाने के लिए निम्न स्तरों पर कोई परिवर्तन नहीं किया गया था; भूमि-कर वसूल करने वाले व्यक्ति भी लगभग समान थे।

4. मुगलकालीन प्रशासन

भारतीय शासन की बागडोर मुगल सम्राटों के हाथ में आने के बाद उन्होंने अपनी सुविधा, प्रज्ञा और आकांक्षाओं के अनुरूप प्रशासनिक व्यवस्था में भी अनेक परिवर्तन किए। विशेष रूप से अकबर (1556-1605), जहांगीर (1605-1627) तथा शाहजहां (1627-1658) ने अपने काल में अनेक नवीन परिवर्तन किए। इन सबमें सम्राट अकबर में विलक्षण एवं उच्च प्रशासनिक क्षमता थी जिसका उसने अनेक नवीन प्रशासनिक कदमों की शुरूआत अथवा असामयिक परम्पराओं का अन्त करके परिचय भी दिया।

मुगल काल में प्रशासनिक क्षेत्र में सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी जिसमें शासक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न एवं शक्ति का एकमात्र पुंज अथवा स्रोत हो गया। प्रशासन की समस्त गतिविधियों पर वही नियन्त्रण करता था तथा इस हेतु वह अपने कर्मचारियों पर सावधानीपूर्वक निगरानी भी रखता था।

अकबर द्वारा विकसित प्रशासनिक तथा कर व्यवस्था जहांगीर तथा शाहजहां ने मामूली परिवर्तनों के साथ कायम रखी, लेकिन मनसबदारी व्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। मुगलों द्वारा विकसित मनसबदारी व्यवस्था ऐसी थी जिसका भारत के बाहर कोई उदाहरण नहीं मिलता। वर्तमान प्रमाण के आधार पर ऐसा लगता है कि मनसबदारी व्यवस्था का आरम्भ अकबर ने अपने शासनकाल के उन्नीसवें वर्ष (1574) में किया था। उसने साथ-ही-साथ कर प्रशासन का भी सुधार किया और जात तथा सवार की व्यवस्था भी आरम्भ की। जात की पदवी किसी व्यक्ति की हैसियत की सूचक थी तथा उसका वेतन भी इसी आधार पर निश्चित होता था। दस से लेकर दस हजार तक के मनसब के लिए 66 वर्ग थे, यद्यपि पांच हजार से अधिक की पदवी राजकुमारों को दी जाती थी।

प्रो. यदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक 'मुगल एडमिनिस्ट्रेशन' में लिखा है, "अकबर पूर्णतया निरंकुश शासक था। वह अपनी सहायता के लिए मन्त्री नियुक्त करता था जो सलाहकार मात्र थे। वे कभी भी उसके द्वारा पदच्युत किए जा सकते थे। सम्राट के बाद सबसे बड़ा अधिकारी प्रधानमन्त्री होता था। प्रारम्भ में प्रधानमन्त्री का सम्बन्ध माल और दीवानी से ही था। सेना का संचालन तो वह यदा-कदा ही करता था। वित्त मन्त्री का कार्य मालगुजारी वसूल करना तथा अन्य कर निर्धारण करना था। मीर बख्शी सेना में भर्ती, पंजियों की तैयारी, मनसूबों की सूची बनाना, वेतन की नियमावली, आदि कार्य करता था। प्रशासन की दृष्टि से अकबर ने अपने समस्त राज्य को कई प्रान्तों में विभक्त कर रखा था। प्रान्त का समस्त शासन प्रान्त की राजधानी में केन्द्रित था। सूबेदार की नियुक्ति स्वयं अकबर करता था। अपने सूबे का शासन वह अपने अन्य अधीनस्थ अधिकारियों की सहायता से चलाता था। सूबे का दूसरा अधिकारी प्रान्तीय दीवान था। उसके प्रमुख कार्य आर्थिक मामलों की देखभाल करना था। यह केन्द्र के प्रधानमन्त्री द्वारा नियुक्त होता था। माह में दो बार उसे सूबे का हाल लिखकर शाही दीवान के पास भेजना पड़ता था। सूबे जिले में विभक्त थे। हर जिले में एक फौजदार, अमलगुजार, कोतवाल और एक खजानेदार होता था। इस सबका प्रमुख फौजदार होता था। माल कलक्टर की नियुक्ति सर्वप्रथम अकबर ने की थी। वह भूमि कर वसूल करता था, इसे करोड़ी कहा जाता था। प्रत्येक करोड़ी के अधीन एक जिला होता था जिसकी आय 2½ लाख रुपए होती थी। अमीन, कृषक और सरकार के बीच का मध्यस्थ होता था। अकबर ने ग्राम-पंचायतों की ओर भी ध्यान दिया था। उसने उनको वैधानिक रूप में न्याय करने वाली संस्थाएं स्वीकार कर लिया।

प्रशासक के रूप में अकबर ने सम्पूर्ण साम्राज्य में एक जैसी शासन प्रणाली कायम की। उसके समय में उसके सम्पूर्ण राज्य में एक-से सिक्के प्रचलित थे तथा कर वसूली भी एक ही प्रणाली से की जाती थी। परिणामस्वरूप राज्य में राजनीतिक और प्रशासनिक एकता स्थापित हुई।

शाहजहां ने अपने शासन काल में इस ओर प्रारम्भ से ही पर्याप्त ध्यान दिया। उसने योग्यता के आधार पर नियुक्तियां करना आरम्भ किया था। शासन की सुविधा के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य प्रान्तों में विभक्त था। उच्च कोटि के प्रशासनिक क्षमता वाले एवं सैन्य गुटों से युक्त व्यक्ति को प्रान्ताधीश (गर्वनर) के पद पर आसीन किया जाता था। शाहजहां न्याय पसन्द था। जहांगीर के नियमों में कुछ परिवर्तन कर उन्हीं के आधार पर न्याय करता था। उसका दण्ड विधान कठोर था।

औरंगजेब मुगल काल का अन्तिम बादशाह था। सारे साम्राज्य को उसने शासन प्रबन्ध की दृष्टि से 21 सूबों में बांट रखा था। हर सूबा एक सूबेदार के अधीन था। शासन के प्रारम्भिक काल में उसका शासन प्रबन्ध सुचारु रूप से चला। कालान्तर में दूर सूबेदारों पर उसका नियन्त्रण ढीला पड़ता गया। उसने अपने शहजादों को शासन प्रबन्ध से दूर रखा। यह सोच कर कि कहीं वे उसके विरुद्ध विद्रोह न कर दें। इसी कारण से उसने सत्ता का विकेन्द्रीकरण भी नहीं किया। शासन व्यवस्था के समस्त कार्य वह स्वयं देखता था तथा मन्त्रियों पर निर्भर नहीं रहता था। इन्हीं कारणों से वह अपने शासन में असफल रहा।

मुगलों की प्रशासनिक व्यवस्था में कर्मचारियों की भर्ती के निश्चित नियम न होते हुए भी उनकी लोक सेवा कुशल थी। मुगलकालीन प्रशासन का गठन नौकरशाही की पदसोपानवद्ध पद्धति के अनुसार ही था।

मुगलकालीन प्रशासन के संगठन को निम्नलिखित तीन स्तरों पर विस्तार से समझा जा सकता है : 1. मुगल साम्राज्य में केन्द्रीय शासन, 2. मुगल राज्य में प्रान्तीय शासन, 3. मुगल राज्य में स्थानीय शासन।

1. मुगल साम्राज्य में केन्द्रीय शासन

(i) **बादशाह**—मुगल सम्राट असीम शक्ति सम्पन्न एवं राज्य का सर्वेसर्वा था। शासन कार्य की समस्त शक्तियां सम्राट में केन्द्रीभूत थीं। साम्राज्य का प्रधान होने के साथ-साथ सेना का प्रधान सेनापति, न्याय का मुख्य न्यायाधीश तथा धार्मिक क्षेत्र का प्रधान था।

(ii) **मन्त्रिपरिषद्**—साम्राज्य की शासन व्यवस्था में मदद के लिए एक मन्त्रिपरिषद् की स्थापना की गयी थी। सभी मन्त्रियों की नियुक्ति सम्राट द्वारा होती थी। इसकी सलाह मानने के लिए सम्राट बाध्य नहीं था। मन्त्रिपरिषद् के विभाग इस प्रकार थे—(1) प्रधानमन्त्री या वकील, (2) दीवान या वजीर, (3) मीर बख्शी, (4) खान-ए-सामां, (5) सदर-ए-सुदूर, (6) मुहातसिब, (7) मीर आतिश, (8) काजी-उल-कुजात, (9) दरोगा-ए-डाक-चौकी।

साम्राज्य में सम्राट के बाद ऊंचा पद प्रधानमन्त्री या वकील का होता था। 'वकील' के बाद 'दीवान' का पद होता था जो राजकोष विभाग का अध्यक्ष होता था। सैन्य विभाग का अध्यक्ष 'मीर बख्शी' कहलाता था। घरेलू विभाग का प्रधान 'खान-ए-सामां' कहलाता था। सदर-ए-सुदूर के पास दान विभाग, न्याय विभाग तथा शिक्षा विभाग थे। तोपखाने विभाग का अध्यक्ष 'मीर आतिश' कहलाता था। 'काजी-उल-कुजात' का प्रधान कार्य न्याय की समुचित व्यवस्था करना था। डाक विभाग का अध्यक्ष दरोगा-ए-डाक चौकी कहलाता था।

इन मन्त्रियों के अतिरिक्त केन्द्र में कुछ अन्य अधिकारी भी होते थे। जैसे—मीर बहर (यह नौ सेना अधिकारी होता था), मीर बार (यह वन अधीक्षक होता था) तथा दरोगा-ए-टकसाल (जो टकसाल का प्रबन्ध करता था)।

2. मुगल राज्य में प्रान्तीय शासन

सम्राट अकबर से पूर्व मुगल साम्राज्य में प्रान्तीय प्रशासन की व्यवस्था नहीं थी। अकबर पहला मुगल सम्राट था जिसने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी। अतः इस विशाल साम्राज्य का एक केन्द्र से शासन करना सम्भव नहीं था। फलतः उसने उसे 18 सूबों में विभक्त कर दिया। इन प्रान्तों के प्रशासन की रूपरेखा भी वैसी ही थी जैसे कि केन्द्र की थी। प्रान्तीय शासन में अग्रलिखित प्रमुख अधिकारी होते थे :

(1) **सूबेदार**—प्रान्तीय शासन का प्रधान सूबेदार कहलाता था। उसकी नियुक्ति एवं पदच्युति करना सम्राट की इच्छा पर निर्भर था। उसे सम्राट के आदेशानुसार ही कार्य करना पड़ता था। सूबेदार का प्रमुख कार्य प्रान्त में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना करना, शाही आज्ञाओं का पालन करवाना, आदि था।

(2) **दीवान**—सूबेदार के बाद प्रान्त का दूसरा अधिकारी 'दीवान' होता था। दीवान की नियुक्ति भी सम्राट द्वारा होती थी। वह सूबेदार के कार्यों में सहयोग प्रदान करता था। प्रान्त की गतिविधियों की सम्पूर्ण सूचना केन्द्र को भेजना भी उसी का कार्य था।

(3) **सदर**—दान विभाग का प्रधान होता था तथा उसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा होती थी।

(4) **आमिल**—आमिल का प्रमुख कार्य मालगुजारी वसूल करना होता था।

(5) **बख्शी**—इसका प्रमुख कार्य कृषि योग्य भूमि एवं ऊसर भूमि का वार्षिक आय-व्यय का विवरण सरकार को भेजना था।

(6) **पोतदार**—पोतदार उस अधिकारी को कहा जाता था जो कृषकों से राजस्व वसूल करके राजकोष को सुरक्षित रखे।

(7) **फौजदार**—फौजदार की नियुक्ति प्रान्त का सूबेदार करता था। प्रत्येक प्रान्त में कई फौजदार होते थे। इनका प्रमुख कार्य विद्रोहों का दमन करके प्रान्त में शान्ति तथा सुव्यवस्था बनाए रखना तथा सूबेदार को प्रशासनिक कार्यों में मदद करना था।

(8) **कोतवाल**—प्रान्त के प्रत्येक नगर में एक कोतवाल होता था। इसका प्रमुख कार्य नगर में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना था।

(9) **खबर नवीस**—सूचनाएं ले जाने के लिए सूचना वाहक होते थे। ये चार भागों में विभक्त थे—वाक-ए-नवीस, सबानह-निगार, खुफिया-नवीस तथा हरकारह।

3. मुगल राज्य में स्थानीय शासन

शासन की सुविधा की दृष्टि से प्रत्येक प्रान्त तीन भागों में विभक्त था : (1) सरकार, (2) परगना, तथा (3) ग्राम।

प्रत्येक प्रान्त अनेक सरकारों या जिलों में विभक्त था। प्रत्येक सरकार का सबसे बड़ा अधिकारी 'फौजदार' होता था। 'सरकार' में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना फौजदार का प्रमुख कर्तव्य था। 'सरकार' में राजस्व का एक प्रमुख अधिकारी 'अमलगुजार' होता था।

प्रत्येक 'सरकार' या 'जिला' अनेक परगनों में विभक्त था। परगने का प्रधान अधिकारी 'शिकदार' कहलाता था जो परगने में शान्ति एवं सुव्यवस्था के लिए उत्तरदायी होता था। प्रत्येक परगने में एक 'आमिल' भी होता था जिसका प्रमुख कार्य भूमि-कर का निर्धारण तथा उसकी वसूली करना था। प्रत्येक परगने में 'कानूनगो' भी नियुक्त किए जाते थे। कानूनगो की मदद के लिए अनेक पटवारी होते थे।

गांव शासन की सबसे छोटी इकाई होती थी। गांव का प्रधान अधिकारी 'मुकद्दम' कहलाता था जो गांव का मुखिया होता था। इसका प्रमुख कार्य लगान वसूल करना, गांव में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करना तथा सरकारी कर्मचारियों की मदद करना था। गांव का दूसरा प्रमुख अधिकारी 'पटवारी' कहलाता था। यह भूमि के लगान से सम्बन्धित रजिस्टर रखता था।

5. ब्रिटिश काल में प्रशासन का विकास

भारत में ब्रिटिश प्रशासन का बीजरूप में प्रारम्भ 1600 ई. में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ हुआ। सन् 1755 तक एक व्यावसायिक संस्था के रूप में ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपना अस्तित्व भली-भांति स्थापित कर चुकी थी। सन् 1757 ई. में प्लासी के युद्ध से भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व की नींव पड़ी। सन् 1772 ई. से 1858 ई. तक का युग ऐसा रहा जिसे हम 'दोहरे शासन का काल' कहते हैं। कम्पनी का शासन तो रहा ही, किन्तु ब्रिटिश संसद भी भारतीय प्रशासन सम्बन्धी मामलों में अधिकाधिक रुचि लेने लगी। 1857 की क्रान्ति ने एक जबरदस्त परिवर्तन का आधार तैयार कर दिया और 1858 से भारत में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की शुरूआत हो गयी। भारत सरकार का संचालन कम्पनी से क्राउन के हाथ में आ गया। सन् 1947 तक भारत का शासन ब्रिटिश क्राउन के द्वारा चलाया गया। भारत में ब्रिटिश शासन मोटे तौर पर एक जिला आधारित प्रशासन रहा जिसमें प्रतिष्ठा और पदसोपान, वेतन स्तर, आदि के भारी भेद-भावों के साथ-साथ केन्द्रीय प्रशासन और राज्य-स्तरीय प्रशासनों के लिए दो भिन्न-भिन्न दिशाएं उभरीं। राजस्व और विधि व्यवस्था इस प्रशासन के मूल आधार रहे।

भारत में ब्रिटिश काल में लोक प्रशासन के विकास को निम्नलिखित शीर्षकों में विभक्त करके देखा जा सकता है :

1. **केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् का विकास**—केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् की दृष्टि से भारत के संवैधानिक इतिहास को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(1) रेग्यूलेटिंग ऐक्ट से लेकर कम्पनी द्वारा सत्ता हस्तान्तरण के समय तक (1773-1858); (2) ब्रिटेन के प्रत्यक्ष शासन के प्रारम्भ से लेकर भारतीयों को शासन का उत्तरदायित्व प्रदान प्रारम्भ कर सके (1858-1919); तथा (3) प्रान्तीय क्षेत्र में आंशिक उत्तरदायित्व प्रदान करने के समय से लेकर सत्ता हस्तान्तरण तक (1919-1947)।

केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना 1773 के रेग्यूलेटिंग ऐक्ट द्वारा की गयी थी। ऐक्ट के अनुसार बंगाल के गवर्नर को कम्पनी के भारतीय प्रदेशों का गवर्नर जनरल बनाया गया और उसकी सहायता के लिए 4 सदस्यों की एक परिषद् की स्थापना की गयी। ऐक्ट में व्यवस्था की गई कि गवर्नर जनरल की परिषद् के सब निर्णय बहुमत से होंगे और गवर्नर जनरल को उसकी परिषद् के निर्णय मानने पड़ेंगे। पिट् के भारतीय अधिनियम ने कार्यकारिणी परिषद् की संख्या घटाकर 3 कर दी। 1833 के चार्टर अधिनियम द्वारा कार्यकारिणी परिषद् में एक चौथा सदस्य फिर से जोड़ा गया जिसे विधि सदस्य का नाम दिया गया। 1861 के भारतीय परिषद् अधिनियम ने इसमें एक सदस्य और बढ़ाया, जो वित्त सदस्य कहलाया। सन् 1874 के अधिनियम द्वारा सार्वजनिक निर्माण विभाग के लिए एक सदस्य और जोड़ा गया। 1909 में सैनिक रसद सदस्य के पद को समाप्त कर उसके स्थान पर शिक्षा तथा स्वास्थ्य विभाग का सदस्य नियुक्त किया गया।

1919 के ऐक्ट से पूर्व स्थिति यह थी—इसमें 6 साधारण सदस्य थे, सेनापति इसका असाधारण सदस्य होता था। सन् 1921 से 1941 तक कार्यकारिणी परिषद् में साधारणतया 8 सदस्य रहे जिनमें से 3 भारतीय होते थे। सन् 1941 में 'अगस्त योजना' के पश्चात् कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या 13 कर दी गई जिनमें से 8 स्थान भारतीयों को सौंपे गए। सन् 1946 की कैबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत जब अन्तरिम कार्यपालिका का पुनर्निर्माण हुआ तो सभी स्थानों पर भारतीयों को नियुक्त किया गया और इसकी नियुक्ति भी श्री नेहरू के परामर्श पर हुई। इस परिषद् ने कुछ दिनों तक मन्त्रिमण्डल की भांति कार्य किया, परन्तु लीग के सदस्यों द्वारा संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य न किए जाने के कारण आगे चलकर ऐसा सम्भव नहीं रहा।

परिषद् के सदस्य अपने-अपने अधीन केन्द्रीय प्रशासन के विभागों के अध्यक्ष होते थे। उनके साधारण कर्तव्य परामर्शदाताओं की अपेक्षा प्रशासकों जैसे अधिक थे। प्रत्येक सदस्य अपने विभाग के मन्त्री के समान राजनीतिक अध्यक्ष होता था और उसके विभाग में स्थायी कर्मचारियों की एक बड़ी संख्या होती थी, जिसका सर्वोच्च पदाधिकारी स्थायी सचिव होता था। स्थायी सचिव साधारणतया बहुत वरिष्ठ और अनुभवी यूरोपियन अधिकारी होता था। विभागीय सचिव का कर्तव्य होता था कि वह प्रत्येक मामले को विभागीय अध्यक्ष के सम्मुख निर्णय के लिए रखे। इसके साथ वह अपनी सम्मति भी देता था। साधारण मामलों में परिषद् का सदस्य अन्तिम निर्णय करता और आदेश निकालता था। यदि मामला महत्वपूर्ण होता, तो उसे गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता था। यदि गवर्नर जनरल सदस्य के निर्णय को अस्वीकार करता, तो सम्बन्धित सदस्य ऐसे मामले को पूरी परिषद् के सम्मुख पेश कर सकता था। एक से अधिक विभागों से सम्बन्धित मामले पर यदि सम्बन्धित विभाग सहमत न हो पाते, तो उसे गवर्नर जनरल के पास भेजा जाता था।

2. **केन्द्रीय सचिवालय का विकास**—कम्पनी शासन में बंगाल के गवर्नर जनरल के अधीन केन्द्रीय सरकार का सचिवालय गठित किया गया, जिसमें 1833 के चार्टर अधिनियम के अन्तर्गत प्रशासनिक मितव्ययिता की दृष्टि से कुछ परिवर्तन किए गए। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि राजस्व और वित्त विभागों को मिलाकर एक मिश्रित विभाग बना दिया गया। 1843, 1855 और 1862 से 1919 तक सचिवालय में विभागों का गठन-पुनर्गठन होता रहा। सन् 1919 से 1947 तक का युग केन्द्रीय सचिवालय में विभिन्न सुधारों के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। सन् 1919 की लिविलियन स्मिथ कमेटी के सुझाव के आधार पर (1) विभागीय विषयों को पुनर्गठित किया गया; (2) लिखित आलेखों की प्रथा प्रारम्भ की गई; (3) केन्द्रीकृत भर्ती की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ; तथा (4) सचिवालय में प्रतिनियुक्ति व्यवस्था को सुदृढ़ किया गया। 1911 में पुनर्गठित सचिवालय में कुल 11 विभाग बने, जिनके नाम इस प्रकार थे—(1) गृह, (2) विदेशी मामले, (3) वाणिज्य, (4) शिक्षा एवं स्वास्थ्य, (5) विधि निर्माण, (6) वित्त, (7) उद्योग, (8) सेना, (9) रेल, (10) सार्वजनिक निर्माण, और (11) राजस्व एवं कृषि। 1936-37 में नियुक्त होने वाली ह्वीलर और मैक्सवेल समितियां जिन्हें सचिवालय समिति और संगठन तथा प्रक्रिया समिति भी कहते हैं, केन्द्रीय सचिवालय के सुधार के लिए व्यापक सुझाव प्रस्तुत किए। ह्वीलर समिति की मान्यता थी कि केन्द्र और प्रान्तों के बीच डेपुटेशन सिस्टम बनाए रखा जाए; आई. सी. एस. के अधिकारी ऑडिट और टैक्स विभाग में कार्य करें तथा डबल नोटिंग सिस्टम को समाप्त किया जाए।

सन् 1941 में नागरिक प्रतिरक्षा, सूचना एवं प्रसारण तथा प्रवासी भारतीयों से सम्बन्धित विभाग स्थापित किए गए; 1942 में खाद्य विभाग बना तथा 1944 में नियोजन एवं विकास विभाग बनाए गए। द्वितीय

महायुद्ध के बाद यद्यपि सचिवालय में सामान्य परिवर्तन हुए, किन्तु सबसे महत्वपूर्ण घटना शिक्षा, स्वास्थ्य एवं कृषि मन्त्रालयों का विभाजन थी। 15 अगस्त, 1947 को जब सत्ता का हस्तान्तरण हुआ तो नई दिल्ली के केन्द्रीय सचिवालय में 19 विभाग थे जिनका फिर से पुनर्गठन एवं सुधार करने के लिए स्वतन्त्र भारत की सरकार ने सर गिरिजाशंकर वाजपेयी की अध्यक्षता में 'सचिवालय पुनर्गठन समिति' की स्थापना की।

3. **वित्तीय प्रशासन**—भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित होने के बाद प्रान्तों को वित्त के सम्बन्ध में बहुत अधिक सीमा तक स्वतन्त्रता दी गई, किन्तु 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा वित्त का केन्द्रीकरण कर दिया गया। इस अधिनियम द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी प्रान्तीय सरकार को नए पद अथवा नए वेतन या भत्ते की स्वीकृति का अधिकार नहीं होगा, जब तक गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति प्राप्त न हो जाए। 1833 से 1870 ई. तक प्रान्तीय सरकारें केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता के रूप में ही काम करती रहीं। उन्हें कर लगाने अथवा उसे खर्च करने का कोई अधिकार नहीं था। स्ट्रैचे के शब्दों में, "1833 ई. से लेकर 1870 ई. तक ब्रिटिश भारत के सब प्रान्तों से प्राप्त होने वाले राजस्व को एक ही निधि समझा जाता था जिसमें से व्यय की स्वीकृति का अधिकार केवल कौंसिल स्थित गवर्नर जनरल को ही था।"

सर्वप्रथम 1870 में वित्तीय विकेन्द्रीकरण की दिशा में लॉर्ड मेयो की सरकार द्वारा एक निश्चित योजना को अपनाया गया। इस प्रस्ताव के आधार पर निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गईं : (1) जेलें, रजिस्ट्रेशन, पुलिस, शिक्षा, चिकित्सा सेवाएं, सड़कें, छपाई, आदि के व्ययों की मदों तथा उनसे प्राप्त होने वाले राजस्व को प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में हस्तान्तरित कर दिया गया। (2) प्रान्तों को कुछ निश्चित वार्षिक अनुदान देने की व्यवस्था की गई।

1877 में स्ट्रैचे ने एक नवीन योजना प्रस्तावित की। इस योजना के अनुसार भूमि कर, स्थानीय चुंगी, स्टाम्प, स्टेशनरी, कानून तथा न्याय और सामान्य प्रशासन जैसी व्यय की कुछ मदें प्रान्तीय सरकारों के नियन्त्रण में हस्तान्तरित कर दी गईं। इनकी व्यवस्था के लिए तथा खर्चा पूरा करने के लिए प्रान्तीय सरकारों को चुंगी, स्टाम्प, आदि से प्राप्त होने वाले राजस्व में से कुछ भाग और दिया गया।

वित्तीय मामलों में प्रान्तीय सरकारों को और अधिक उत्तरदायित्व प्रदान करने के लिए 1882 में एक नई योजना प्रस्तावित की गयी। इसके अनुसार राजस्व के समस्त साधनों को तीन भागों में विभक्त किया गया—केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा विभाजित। केन्द्रीय मदों से प्राप्त होने वाले राजस्व को केन्द्रीय प्रशासन पर और प्रान्तीय मदों से प्राप्त होने वाले राजस्व को केवल प्रान्तों के नियन्त्रण में दिया गया। विभाजित मदों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के बीच बराबर-बराबर बांटने का निश्चय किया गया। यद्यपि लॉर्ड कर्जन प्रशासन के केन्द्रीकरण में विश्वास करता था, लेकिन उसने केन्द्रीय, प्रान्तीय तथा विभाजित मदों के पुराने वर्गीकरण को जारी रखा। विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में 1907 में चार्ल्स हॉबहाउस की अध्यक्षता में एक शाही आयोग नियुक्त किया गया। इसने सिफारिश की कि गवर्नर जनरल को प्रान्तीय राजस्व में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। 1919 के ऐक्ट द्वारा प्रान्तीय प्रशासन में उत्तरदायित्व के तत्व का प्रवेश हुआ और प्रान्तों के बजट केन्द्रीय सरकार से बिल्कुल पृथक् कर दिए गए और प्रान्तीय सरकारों को अपने बजटों के निर्माण का पूर्ण अधिकार दिया गया। केन्द्रीय सरकार के साथ-साथ प्रान्तीय सरकारों को भी अपनी आय के साधनों और व्यय की मदों पर पूर्ण नियन्त्रण का अधिकार दिया गया। प्रान्तों को पहली बार पूर्णतया प्रान्तीय या स्थानीय प्रकृति के कर लगाने का अधिकार दिया गया। वित्त के क्षेत्र में मॉण्टफोर्ड सुधारों (1919) से प्रान्तों को कुछ वास्तविक स्वायत्तता मिली। 1935 के ऐक्ट द्वारा प्रान्तीय स्वायत्तता की व्यवस्था की गयी थी। अतः इस अधिनियम के द्वारा संघीय सरकार द्वारा प्रान्तों में 3 सूचियों के आधार पर न केवल कार्यों का वर्गीकरण किया गया अपितु वित्तीय साधनों का भी विभाजन किया गया। संघीय सरकार तथा राज्यों के पृथक्-पृथक् आगम-साधन रखे गए। कुछ सीमा में प्रान्तों को उधार लेने का अधिकार भी दिया गया। प्रान्तों को अपना घाटा पूरा करने के लिए केन्द्रीय सरकार की ओर से निएमेयर रिपोर्ट के अनुसार वित्तीय सहायता प्रदान की गई। निएमेयर रिपोर्ट की इस बात को स्वीकार कर लिया गया कि आय-कर की भी आधी धनराशि प्रान्तों में बांट दी जाए।

4. **स्थानीय शासन का विकास**—भारत में वर्तमान स्थानीय शासन संस्थाओं की रचना और विकास अंग्रेजी शासन की देन है। इनकी रचना ब्रिटिश संस्थाओं के नमूने पर अंग्रेजों ने की और उन्हीं के शासन काल में इनका विकास हुआ।

स्थानीय शासन का प्रारम्भ प्रेसीडेन्सी नगरों में रहते हुए 1687 ई. में मद्रास के लिए एक निगम की स्थापना की गई। 1726 ई. में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास इन तीन प्रेसीडेन्सी नगरों में मेयरों की अदालतें स्थापित करने का अधिकार दिया गया। 1850 में एक अधिनियम सारे भारत के लिए स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार विभिन्न प्रान्तों के कुछ बड़े नगरों में नगरपालिकाओं की स्थापना की गई। लॉर्ड रिपन के शासनकाल में स्थानीय संस्थाओं को काफी बढ़ावा मिला। उनके स्वरूप को लोकतान्त्रिक बनाया गया तथा उनके कार्यों एवं शक्तियों में वृद्धि की गयी। मॉण्टेग्यू घोषणा के पश्चात् भी स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के विकास को काफी प्रोत्साहन मिला। सन् 1937 में प्रान्तों में उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों के निर्माण के फलस्वरूप स्थानीय संस्थाओं के प्रजातन्त्रीकरण के कार्य में काफी प्रोत्साहन मिला।

5. **क्षेत्रीय प्रशासन**—अंग्रेजी शासन काल में क्षेत्रीय शासन का विकास हुआ। प्रान्त जिलों में विभक्त थे। कुछ प्रान्तों में जिलों का समूहीकरण कर सम्भाग का निर्माण किया गया था। सम्भाग का अधिकार आयुक्त (कमिश्नर) तथा जिले का अधिकारी 'कलक्टर' कहलाता था। आयुक्त व कलक्टर आई. सी. एस. के वरिष्ठ अधिकारी होते थे। कलक्टर जिला प्रशासन की धुरी होता था। वह जिले में प्रशासनिक यन्त्र को गतिमान रखता था। जिले में शान्ति और व्यवस्था बनाए रखना उसका कर्तव्य था। जिला मजिस्ट्रेट के रूप में वह न्यायिक एवं कार्यकारिणी कार्यों का सम्पादन करता था।

6. **न्याय प्रशासन**—ब्रिटिश शासन में न्याय व्यवस्था अच्छी थी। न्याय का कार्य संघीय न्यायालय, उच्च न्यायालय एवं अधीनस्थ न्यायालयों के हाथों में था। सन् 1935 के भारत शासन अधिनियम के आधार पर संघीय न्यायालय की स्थापना की गई। इस न्यायालय में एक प्रधान न्यायाधीश तथा सरकार द्वारा नियुक्त अन्य न्यायाधीश होते थे। न्यायालय के क्षेत्र में प्रारम्भिक एवं अपीलीय तथा परामर्श सम्बन्धी विषय थे। प्रान्तों में उच्च न्यायालय का गठन सन् 1861 के भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम के अन्तर्गत किया गया था। इन न्यायालयों को दीवानी, आपराधिक, वसीयती, गैर-वसीयती और वैवाहिक क्षेत्राधिकार मौलिक एवं अपील दोनों प्रकार के प्राप्त थे। जिलों में अधीनस्थ न्यायालय थे। ये न्यायालय दो प्रकार के थे : अधीनस्थ दीवानी न्यायालय और अधीनस्थ आपराधिक न्यायालय।

7. **लोक सेवा का विकास**—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने लन्दन से अपने कम्पनी सेवक चुनते समय अत्यन्त सावधानी बरती किन्तु सुसंगठित 'काडर प्रणाली' के अभाव तथा उस शताब्दी की आचार संहिता ने सारी व्यवस्था को 'लूट प्रथा' में बदल डाला। इसके अतिरिक्त, कम्पनी की वाणिज्यिक नौकरियों की प्रकृति योग्यता आधारित प्रशासकीय सेवाओं के विकास में एक भारी बाधा सिद्ध हुई। फिर भी वारेन हेस्टिंग्ज तथा लॉर्ड कार्नवालिस जैसे गवर्नर जनरलों ने भू-राजस्व की वसूली एवं व्यवस्था की स्थापना के क्षेत्रों में लोक सेवाओं की आधारशिला रखकर अत्यन्त ही स्पृहणीय आरम्भिक कार्य किया। सन् 1781 की केन्द्रीकरण योजना के अनुसार राजस्व मण्डल (Board of Revenue) का गठन हुआ। छः वर्ष बाद सन् 1787 में एक अन्य योजना के अन्तर्गत जिले के पदों में जिलाधीश, मजिस्ट्रेसी तथा न्याय प्रशासन का कार्य एकीकृत किया गया। सेटन कार के शब्दों में, "कार्नवालिस कोड ने सत्ता की सीमाओं को परिभाषित किया, न्याय की भ्रूण हत्या के विरुद्ध नियमित अपीलीय व्यवस्था की पद्धतियां निर्मित कीं और राजस्व, पुलिस तथा दीवानी और फौजदारी न्याय के क्षेत्रों में भारतीय लोक सेवाओं की स्थापना की।"

लॉर्ड वैलेजली ने अपने लोक प्रशासकों का बड़ी सावधानी से चयन कर उन्हें फोर्ट विलियम कॉलेज में प्रशिक्षणार्थ भेजा। मुनरो, माल्कम, एलफिन्स्टन तथा अन्य कितने ही प्रतिष्ठित लोक सेवकों ने स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में ऐसी नयी और गौरवशाली परम्पराओं की सृष्टि की जिनके महत्वपूर्ण परिणाम आगामी पीढ़ी के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए। मुनरो और एलफिन्स्टन जैसे प्रशासकों ने भारतीय प्रशासन में सुधार की दृष्टि से कई सुझाव दिए। मुनरो ने मद्रास सरकार को सुझाव दिया कि कलक्टर के पद के साथ दण्डाधिकारी (मजिस्ट्रेट) की सत्ता भी अन्तर्निहित की जाए तथा ग्रामीण पुलिस का प्रबन्ध गांव के मुखिया के हाथों में सौंपा जाए। बम्बई सरकार में कार्यरत एलफिन्स्टन ने प्रशासनिक सुधार की दृष्टि से तीन महत्वपूर्ण कार्य किए—प्रथम, कानूनों की संहिताएं बनाने का कार्य, द्वितीय, भारतीयों को प्रशासन कार्यों में अधिक से अधिक जोड़ने का कार्य तथा तृतीय, शिक्षा के प्रसार का कार्य ताकि लोग प्रशासन के दायित्वों को अधिक से अधिक ग्रहण कर सकें। मुनरो और एलफिन्स्टन के अधूरे कार्यों को पूरा करने का श्रेय लॉर्ड विलियम बैंटिंक को है। उसने योग्यतम भारतीय अधिकारियों को न्यायिक कार्यों के सम्पादन में हिस्सेदारी प्रदान की; उनके लिए उच्च

वेतनमान वाला पद 'डिप्टी कलक्टर' सृजित किया। उसने लॉर्ड मैकाले को गवर्नर जनरल की परिषद् का 'कानूनी-सदस्य' मनोनीत किया जिसने भारतीय दण्ड संहिता का प्रारूप तैयार करने में प्रमुख योगदान दिया। ऐसा कहा जाता है कि मुनरो, एलफिन्स्टन, बैंटिंक, ट्रेवेलियन, मेटकाफ तथा मैकाले जैसे अंग्रेज प्रशासकों की यह धारणा थी कि भारत का प्रशासन भारतीयों के हित में किया जाए।[1] इस समय तक भारत के औपनिवेशिक प्रशासन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा 'कवेनेण्टेड' और 'अनकवेनेण्टेड' दो प्रकार की सेवा व्यवस्थाएं जन्म ले चुकी थीं। अनकवेनेण्टेड लोक सेवा की आवश्यकता कम्पनी प्रशासन ने इसलिए अनुभव की कि कम्पनी के राजनीतिक कार्य बढ़ते जा रहे थे और लॉर्ड विलियम बैंटिंक उदार भारतीयकरण की नीति के प्रबल पोषकों में से एक थे। बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के द्वारा मनोनयन नीति का दुरुपयोग जब एक भ्रष्टाचार काण्ड के रूप में कम्पनी प्रशासन को बदनाम करने लगा तो सन् 1854 में सर चार्ल्स वुड ने लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त करके स्थिति को सामान्य बनाने की कोशिश की। इस समिति ने उन नियमों तथा उपनियमों की व्यवस्था की जिनके अनुसार कवेनेण्टेड सेवा सामान्य उन्मुक्त प्रतियोगिता के लिए खोल दी गयी। फलतः हेलबरी कॉलेज (लन्दन) जो अब तक भर्ती और प्रशिक्षण का केन्द्र था, सन् 1885 में बन्द कर दिया गया।

सन् 1858 में कम्पनी शासन के अन्त और उसके स्थान पर ब्रिटिश क्राउन की सरकार की स्थापना से 'प्रशासन तन्त्र' को 'सरकार' बना दिया। सर ऐडमण्ड ब्लण्ट के शब्दों में, "उच्च भारतीय प्रशासनाधिकारी वास्तव में भारत के मालिक (Owner) बन बैठे। किसी सत्ता के प्रति उत्तरदायी होने के स्थान पर वे अपने को आपस में एक-दूसरे के प्रति उत्तरदायी समझने लगे।" इस मनोवृत्ति का एक परिणाम यह निकला कि भारतीय प्रशासन में उच्च सेवाओं के भारतीयकरण की मांग सामने आने लगी। सन् 1886 से 1923 तक जिन तीन शाही आयोगों की नियुक्ति हुई वे भारतीय लोक सेवाओं के विकास-इतिहास में तीन महत्वपूर्ण चरण कहे जा सकते हैं। **प्रथम** आयोग ने, जिसे एचीसन आयोग (1886) भी कहा जाता है, भारत सरकार को यह सलाह दी कि वह 'स्टेट्यूटरी सिविल सर्विस' व्यवस्था को समाप्त कर प्रान्तीय लोक सेवा का गठन करे। आयोग ने कवेनेण्टेड लोक सेवाओं में भर्ती के लिए इंग्लैण्ड और भारतवर्ष में साथ-साथ प्रतियोगी परीक्षा लिए जाने के प्रस्ताव को अस्वीकार किया, किन्तु उसकी अन्य सिफारिशों के आधार पर भारत सरकार ने कम्पनी सेवाओं में चले आ रहे 'कवेनेण्टेड' तथा 'अन-कवेनेण्टेड' के भेद को समाप्त कर 'इम्पीरियल' और 'प्रॉविन्सियल' नामक लोक सेवाओं के दो नए काडरों का गठन किया। दूसरा आयोग जो इस्लिंगटन आयोग के नाम से अधिक जाना जाता है सन् 1917 में गठित हुआ। इस आयोग ने इंग्लैण्ड और भारत में साथ-साथ ली जाने वाली प्रतियोगिता-भर्ती परीक्षाओं की राष्ट्रीय मांग को स्वीकृति दी। इसने यह भी अनुशंसा की कि भारतीय उच्च लोक सेवाओं में 25 प्रतिशत पद भारतीयों के लिए सुरक्षित रखे जाएं और इन सुरक्षित पदों पर चुने जाने वाले भारतीय प्रत्यक्ष भर्ती व्यवस्था द्वारा लिए जाएं और शेष को प्रान्तीय लोक सेवाओं में से पदोन्नत किया जाए। आयोग ने इम्पीरियल और प्रॉविन्सियल लोक सेवाओं के गठन पर बल ही नहीं दिया बल्कि उनके सम्बन्धों के विकास के भी दिशा निर्देश प्रस्तुत किए। तीसरा आयोग, जिसे ली आयोग के नाम से जाना जाता है, सन् 1923 में गठित किया गया। इस आयोग के अध्यक्ष ली ऑफ फर्नहाम की यह निश्चित मान्यता थी कि द्वैध शासन व्यवस्था के अन्तर्गत जो विषय हस्तान्तरित प्रान्तीय विषय हैं, उनके प्रशासन को चलाने वाली लोक सेवाओं पर राजनीतिक नियन्त्रण को कठोर बनाया जाए। इस शाही आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप ही भारतीय लोक सेवाओं में भारतीयकरण की प्रक्रिया के दो भिन्न-भिन्न रूप सामने आए : एक आई. सी. एस. में भारतीयकरण और दूसरे केन्द्रीय सेवाओं में भारतीयकरण। सन् 1919 का भारतीय शासन अधिनियम वह पहला कानूनी दस्तावेज था जिसने ब्रिटिश क्राउन की इन शाही सेवाओं का एक निश्चित एवं सुस्पष्ट वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इस अधिनियम के अनुसार जिन सेवाओं और विभागों के सदस्य स्थायी तथा प्रत्यक्ष रूप से 'सुप्रीम गवर्नमेण्ट' के अधीन थे, उन्हें यहां से आगे 'सेण्ट्रल सर्विसेज' या केन्द्रीय सेवाएं कहा गया। इस प्रकार की सेवाएं थीं : रेलवे, कस्टम, ऑडिट तथा अकाउण्ट्स तथा मिलिट्री अकाउण्ट्स। इसी प्रकार इस श्रेणी के विभागों में डाक-तार विभाग के कर्मचारी आते हैं, जिन्हें इम्पीरियल सर्विस का स्तर नहीं दिया गया। अन्य इम्पीरियल सेवाओं का फिर से नामकरण किया गया और उन्हें अखिल भारतीय सेवाओं की संज्ञा दी गयी। ये ऑल इण्डिया सर्विसेज थीं : इण्डियन सिविल सर्विस (I.C.S.), इण्डियन पुलिस सर्विस

1 Ramesh Dutt, *The Economic History of India,* Vol. I, 1989, p. 227.

(I.P.S.), इण्डियन सर्विस ऑफ इन्जीनियर्स तथा इण्डियन एज्यूकेशनल सर्विस। ये सभी अखिल भारतीय सेवाएं भारत सचिव के अभिभावकत्व में अपना कार्य करती थीं। प्रान्तीय सेवाओं के नाम उनके अपने प्रान्तों के नाम पर रखे गए, जैसे बम्बई सिविल सर्विस, मद्रास सिविल सर्विस, आदि। साइमन कमीशन योजना के अनुसार प्रस्तावित इन संघीय और प्रान्तीय सेवाओं के अधिकारों और विशेषाधिकारों को सन् 1935 के भारत अधिनियम में कानूनी रूप दिया गया और इन सेवाओं के कर्मियों की पदोन्नति, वेतनमान, अवकाश, सेवा-निवृत्ति शर्तों, इत्यादि की व्यवस्था को सुरक्षित बनाया गया। इसी अधिनियम ने संघीय तथा प्रान्तीय लोक सेवा आयोगों का गठन किया जिनका कार्य तीन प्रकार की लोक सेवाओं के विभिन्न क्षेत्रों में कार्मिक अभिकरणों के रूप में कार्य करते रहना था।

1919 का भारत शासन अधिनियम तथा प्रशासन का विकास

1919 का भारत शासन अधिनियम भारत में लोक प्रशासन एवं प्रशासनिक संस्थाओं के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण दस्तावेज है। लोक प्रशासन की दृष्टि से अधिनियम का प्रमुख योगदान निम्नांकित है :

(1) इस अधिनियम द्वारा शासन के विषयों का विभाजन कर दिया गया, जिन विषयों का सम्बन्ध पूरे देश से था उन्हें केन्द्रीय सरकार को सौंप दिया गया और स्थानीय समस्याओं से सम्बद्ध विषय प्रान्तीय सरकारों को सौंप दिए गये।

(2) 1919 के अधिनियम ने भारत सचिव की भारतीय प्रशासन सम्बन्धी शक्तियों में तो कोई परिवर्तन नहीं किये, किन्तु उस पर संसद का नियन्त्रण बढ़ा दिया। अब तक भारत सचिव तथा उसके विभाग पर होने वाला खर्च भारत के राजस्व में से वसूल किया जाता था, लेकिन अब यह सारा व्यय संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि में से होने लगा। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि भारत सचिव के वेतन पर मतदान के समय उसकी नीति को चुनौती दी जा सकती थी। इस महत्वपूर्ण परिवर्तन के फलस्वरूप इण्डिया ऑफिस का प्रशासन सीधे संसद के नियन्त्रण में आ गया। अब उसकी भी ब्रिटिश सरकार के अन्य विभागों की तरह आलोचना हो सकती थी। प्रान्तीय प्रशासन सम्बन्धी कुछ मामलों में भारत सचिव की शक्ति में कमी हो गई, इसका कारण था प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी प्रशासन की स्थापना।

(3) अधिनियम ने भारत में एक लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) के गठन का भी उपबन्ध किया था। इस आयोग का कार्य था : लोक सेवाओं की भर्ती करना, उन पर नियन्त्रण रखना तथा ऐसे अन्य कार्य करना जो परिषद् सहित भारत-सचिव के बनाए हुए नियमों द्वारा उसे सौंपे जाए।

(4) 1919 के अधिनियम द्वारा भारत में लोक सेवाओं को सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया गया। वे सेवाएं और विभाग जो भारत की केन्द्रीय सरकार के प्रत्यक्ष तथा स्थायी नियन्त्रण में थे, उन्हें केन्द्रीय सेवाओं का नाम दिया गया। इन सेवाओं में मुख्य रूप से रेलवे, कर एवं चुंगी, डाक एवं तार विभाग थे जो कि तकनीकी दृष्टि से इम्पीरियल सेवाओं में शामिल नहीं थे। इनके अतिरिक्त इम्पीरियल सेवाएं थीं जिनका अखिल भारतीय सेवाओं के रूप में नामकरण किया गया था। ये सेवाएं थीं—इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन सर्विस ऑफ इन्जीनियर्स, इण्डियन एजुकेशन सर्विस, इण्डियन वेटेरीनरी सर्विस तथा इण्डियन मेडिकल सर्विस। 1919 के अधिनियम के तहत् प्रथम तीन सेवाएं 'रक्षित क्षेत्र' में कार्यरत थीं और शेष अन्य सेवाएं हस्तान्तरित क्षेत्र में कार्यरत थी।

(5) अधिनियम द्वारा भारतीय प्रशासन के वित्तीय नियन्त्रण का भी प्रबन्ध किया गया। इस प्रयोजन के लिए परिषद् सहित भारत सचिव को अधिकार दिया गया था कि वह भारत में एक महालेखा परीक्षक (आडीटर जनरल) की नियुक्ति कर सकता है।

1935 का भारत शासन अधिनियम तथा प्रशासन का विकास

1935 के भारत शासन अधिनियम द्वारा भारत में संघ व्यवस्था की शुरुआत करने का सुझाव दिया गया तथा प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था की समाप्ति और उसके स्थान पर प्रान्तीय स्वराज्य की स्थापना की गई। प्रान्तीय शासन का सम्पूर्ण क्षेत्र उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथों में सौंप दिया गया और गवर्नर से यह आशा की गई कि उसके द्वारा मन्त्रियों की सलाह के आधार पर प्रशासन के कार्य का संचालन किया जाएगा। लोक प्रशासन की दृष्टि से अधिनियम का प्रमुख योगदान अग्रांकित है :

(1) अधिनियम द्वारा संघात्मक व्यवस्था का प्रावधान रखा गया, अतः शक्ति विभाजन की योजना प्रस्तावित की गई। अधिनियम में केन्द्रीय विषयों की एक संघीय सूची और प्रान्तीय विषयों की प्रान्तीय सूची बनाई गई। इसके अतिरिक्त इसने एक तीसरी समवर्ती सूची भी बनाई। संघ सूची में 59 विषय थे जिन पर केन्द्रीय विधान मण्डल ही कानून बना सकता था; प्रान्तीय सूची में 54 विषय थे; समवर्ती सूची में 36 विषय थे जिन पर केन्द्रीय विधानमण्डल एवं प्रान्तीय विधानमण्डलों को कानून बनाने का अधिकार था।

(2) अधिनियम द्वारा लोक सेवाओं की संरचना में व्यापक फेरबदल किया गया। इण्डियन सिविल, पुलिस तथा मेडिकल सेवाओं के अतिरिक्त अन्य सभी सेवाओं को भारत सचिव के अधिकार क्षेत्र से निकाल दिया गया और इन पर गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों का नियन्त्रण स्थापित किया गया। प्रान्तों में भी लोक सेवा आयोगों की स्थापना की गई। अखिल भारतीय सेवाओं के अतिरिक्त अन्य सभी सेवाओं तथा पदों पर विधानमण्डलों का नियन्त्रण स्थापित किया गया, किन्तु सिविल सर्विस के हितों की सुरक्षा के लिए गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को विशेष अधिकार दिये गये।

(3) अधिनियम के अन्तर्गत वित्तीय व्यवस्था निएमेयर समिति की सिफारिशों पर आधारित थी। राजस्व के स्रोत सूची प्रणाली के अनुसार थे। प्रान्तों की आय का स्रोत प्रान्तीय विषयों से प्राप्तियां थी। वित्तीय प्रशासन में भारत के महालेखाकार की प्रमुख भूमिका होती थी। वह केन्द्र तथा प्रान्तों दोनों के ही लेखाओं पर नियन्त्रण रखता था। भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना अप्रेल, 1935 में की गई। विधायिका द्वारा लोक लेखा समिति के जरिए खर्च पर वित्तीय नियन्त्रण रखा जाता था।

(4) अधिनियम ने संघ की राजधानी दिल्ली में एक संघीय न्यायालय की स्थापना का भी उपवन्ध किया था। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों से आशा की जाती थी कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में कार्य करें तथा एक-दूसरे के क्षेत्राधिकारों का अतिक्रमण न करें। यदि क्षेत्राधिकारों के पारस्परिक अतिक्रमण की कुछ समस्याएं उठती तो उनका निर्णय करना संघीय न्यायालय का काम था।

भारत में ब्रिटिश शासन के प्रभाव
(IMPACT OF THE BRITISH ADMINISTRATION IN INDIA)

आधुनिक भारतीय प्रशासन के विकास में ब्रिटिश शासन काल का बहुत महत्व है। 1947 में सत्ता हस्तान्तरण के साथ ही अंग्रेज भारत का शासन छोड़कर चले गए, लेकिन '**प्रशासन**' का जो विशाल शासन तन्त्र था, वह विल्कुल वैसा ही बना रहा। उसका गठन, उसका आकार, उसके कार्य का ढंग, उसके अंगों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध—यह सब ज्यों-के-त्यों बने रहे।[1] नई सरकार के लिए यह बिल्कुल असम्भव था कि किसी लेनिन की सलाह "राज्य के शासन तन्त्र को तोड़ दीजिए" को मानकर इस विरासत को ठुकरा देती। सरदार बल्लभ भाई पटेल ने 1949 में संविधान सभा में 'आल इण्डिया सर्विसेज' की जोरदार हिमायत करते हुए कहा, "मैंने इस कठिन समय में उनके साथ काम किया है.....अगर उन्हें हटा दिया गया, तो मेरे ख्याल से सारे देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।"

भारत में ब्रिटिश प्रशासन की निम्नलिखित विरासत अथवा प्रभाव आज भी देखे जा सकते हैं :

1. संसदीय शासन और संघीय ढांचा एक महत्वपूर्ण ब्रिटिश विरासत है। जिस संसदीय लोकतन्त्र पर भारत के नए संविधान की शासन व्यवस्था आधारित है, उसे हमने ब्रिटेन से प्राप्त किया है। सेठ गोविन्द दास ने संविधान सभा में कहा था : "हम उत्तरदायी शासन चाहते हैं....यहां हमें ब्रिटिश शासन पद्धति का अनुकरण करना चाहिए।" इसी प्रकार हमारी संघात्मक व्यवस्था का ढांचा 1935 के भारत शासन अधिनियम में प्रस्तावित संघीय ढांचे की 'सत्य प्रतिलिपि' है और इस अधिनियम का निर्माण ब्रिटिश शासन काल में हुआ था। मॉरिस जोन्स के शब्दों में, "ब्रिटिश संसद ने भारत की सरकार का ढांचा निर्धारित करने के लिए जो अन्तिम ऐक्ट अर्थात् 1935 का ऐक्ट पारित किया था उसका झुकाव स्पष्ट रूप से संघवाद की ओर था.....अतः संघीय ढांचा ब्रिटिश विरासत का एक महत्वपूर्ण भाग था।"

1 "With the transfer of power in 1947, the British as rulers withdrew....But the great machine of government remained intact. Its build and shape, its manner of working, the relation of its parts—all these were firmly present."
—Morris Jones, *The Government and Politics of India*, p. 26.

2. ब्रिटिश प्रशासन में जिला, प्रशासन की केन्द्रीय इकाई था, सभी प्रान्त जिलों में वंटे हुए थे। अधिकांश प्रान्तों में कई जिलों को मिलाकर सम्भाग वनाए गए थे। हर प्रान्त में प्रत्येक जिला कई सव-डिवीजनों में वंटा हुआ था और सव-डिवीजन भी आगे तहसीलों या तालुकों में वंटे हुए थे। हर तहसील या तालुके में कई गांव थे। स्वतन्त्र भारत की नई सरकार को शासन का यह ढांचा विरासत में मिला।

3. ब्रिटिश प्रशासन के अन्तर्गत प्रशासन की हर इकाई में एक ऐसा अधिकारी होता था जिसके ऊपर पूरी जिम्मेदारी थी, जैसे सम्भाग में सम्भाग आयुक्त, जिले में कलक्टर या डिप्टी-कमिश्नर होता था, सव-डिवीजन में सव-डिवीजनल ऑफीसर होता था और तहसील में तहसीलदार या मामलातदार होता था। जिले के मुख्य अधिकारी के साथ ही जिले का पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट और चीफ इंजीनियर जैसे विशेषज्ञ अधिकारी भी हर जिले में थे। जहां तक अपने विभाग से सम्बन्धित विशेष कार्य की वात थी, ये अधिकारी प्रान्तीय सरकार में अपने अलग-अलग विभागों के प्रति जिम्मेदार थे, लेकिन जिले के आम शासन के मामले में ये अधिकारी जिले के प्रमुख अधिकारी के अधीन होते थे और उसके निर्देश के अनुसार काम करते थे। आज भी स्वतन्त्र भारत में जिला प्रशासन लगभग इसी ब्रिटिश विरासत का ऋणी है।

4. ब्रिटिश शासन की एक अन्य विरासत इण्डियन सिविल सर्विस थी। रजनी कोठारी के शब्दों में, "भारत को अंग्रेजों से जो प्रशासनिक संस्थाएं विरासत में मिलीं, उनमें सिविल सेवाएं सवसे ज्यादा महत्वपूर्ण हैं।" आई. सी. एस. में जाना सिर्फ एक अच्छी और दिलचस्प नौकरी की गारण्टी मात्र ही नहीं था, वल्कि इसमें नौकरी के साथ ही वड़ा सम्मान भी था। इस सर्विस के लोग ही सत्ता के एकमात्र केन्द्र थे। न केवल जिला अधिकारियों अपितु केन्द्र और प्रान्तों में वरिष्ठ प्रशासनिक पदों पर इसी सर्विस के लोगों को नियुक्त किया जाता था। स्वतन्त्र भारत में इसी प्रकार की सेवा 'आई. ए. एस.' बनायी गयी है।

5. अखिल भारतीय सेवाओं की अवधारणा भी ब्रिटिश विरासत है। सन् 1919 में नौ अखिल भारतीय सेवाएं थीं, जैसे—इण्डियन सिविल सर्विस, इण्डियन पुलिस, इण्डियन फॉरेस्ट सर्विस, इण्डियन एज्यूकेशन सर्विस, इण्डियन मेडिकल सर्विस, आदि। स्वतन्त्र भारत में तीन अखिल भारतीय सेवाएं विद्यमान हैं और कतिपय नई सेवाओं के गठन के लिए समय-समय पर प्रस्ताव रखे गए हैं। आई. सी. एस. में आने वाले अंग्रेजों और भारतीयों को भर्ती के वाद समान रूप से स्थायी आधार पर किसी एक प्रान्त की सेवा में रख दिया जाता था। पहले उन्हें किसी जिले में रखा जाता था, जहां कुछ समय तक उन्हें किसी अनुभवी अफसर के मार्गदर्शन में काम करना पड़ता था। आगे चलकर वे खुद जिले के शासन का कार्य-भार संभाल लेते थे। उन्हें कुछ समय तक प्रान्त के सचिवालय में भी काम करना पड़ता था। कुछ समय के लिए उन्हें केन्द्रीय सचिवालय में भी डेपुटेशन पर भेजा जा सकता था लेकिन इस हालत में भी उन्हें मूलतः उसी प्रान्त का अधिकारी माना जाता था, जिसमें उन्हें शुरू में रखा गया होता था और आगे चलकर उन्हें अपने उसी प्रान्त में वापस भी जाना पड़ता था। केन्द्र में सीनियर पद आई. सी. एस. लोगों के लिए होते थे। केन्द्र सरकार प्रान्तों से आई. सी. एस. अधिकारियों को प्रतिनियुक्ति पर लेकर उन्हें इन पदों पर नियुक्त कर लेती थी। स्वतन्त्र भारत में आई. सी. एस. के बारे में विल्कुल ऐसी ही पदावधि प्रणाली (Tenure System) आज भी ज्यों-की-त्यों विद्यमान है।

6. स्वतन्त्र भारत में न्याय प्रशासन और कानून के शासन की अवधारणा महत्वपूर्ण ब्रिटिश विरासत है।

7. पुलिस प्रशासन, आई. पी. सी., सी. आर. पी. सी. आज भी ब्रिटिश विरासत हैं। आज भी यह ब्रिटिश धारणा वनी हुई है कि पुलिस सिविल प्रशासन या कलक्टर के अधीक्षण में काम करे और कानून तथा व्यवस्था का अधिकारी पुलिस अधीक्षक न होकर कलक्टर को माना जाए।

8. ब्रिटिश काल में केन्द्रीकरण की जिस प्रवृत्ति ने जन्म लिया उसने तीन प्रकार की लोक सेवाएं उभरकर सामने आयीं—अखिल भारतीय सेवाएं, केन्द्रीय सेवाएं तथा प्रान्तीय सेवाएं। स्वतन्त्र भारत में प्रशासनिक कार्य इन्हीं तीन प्रकार की अस्त-व्यस्त और विखरी हुई लोक सेवाओं के साथ आरम्भ हुआ।

9. भारत में स्थानीय शासन का जो ढांचा प्रचलित है वह लगभग उसी रूप में चल रहा है जैसा ब्रिटिश काल में प्रचलित था। यद्यपि स्थानीय शासन संस्थाओं की स्थिति, सत्ता और दायित्वों में एक मौलिक अन्तर आया है और स्थानीय संस्थाओं का स्वरूप वास्तविक रूप में लोकतान्त्रिक हो गया है तथापि उसका ढांचा ब्रिटिश काल के ढांचे पर ही आधारित है।

10. 1835 में मैकाले के प्रसिद्ध नोट के फलस्वरूप ब्रिटिश राज ने अपना सबसे महत्वपूर्ण निर्णय लिया। यह था अंग्रेजी माध्यम से हाईस्कूल और कॉलेजों में शिक्षा देने का। इसके पहले भी पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित होकर अनेक व्यक्ति अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सम्पर्क में आए। इस शिक्षा ने अंग्रेजी पढ़े-लिखे एक नए वर्ग की सृष्टि की जो पाश्चात्य संस्कृति और राजनीतिक विचारों से प्रभावित था और अंग्रेजी अफसरों के नीचे काम करने को तैयार था। बहुत से अंग्रेजी शिक्षितों ने वकालत का पेशा अपनाया, कुछ अध्यापक हुए और कुछ व्यापार उद्योग में लगे। थोड़े से भारतीय उच्च शिक्षा प्राप्त करके आई. सी. एस. बनने की आकांक्षा से इंग्लैण्ड भी पहुंचे।

यह भारत का नया मध्यवर्ग था। इस वर्ग के जरिए अंग्रेजों ने भारत पर राज किया। इसी वर्ग के जरिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता और वैधानिक शासन के विचार फैले और इसी वर्ग से अंग्रेजी राज को चुनौती देने वाले नेता उठे। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा की उपज यह वर्ग ब्रिटिश राज की सबसे बड़ी विरासत है। इसी वर्ग ने अन्त में अंग्रेजों से सत्ता ग्रहण की।

11. प्रशासन में सचिवालय और निदेशालय प्रणाली तथा लोक सेवा में सामान्यज्ञ की प्रधानता ब्रिटिश काल से अब तक निरन्तर जारी है। अनामता और राजनीतिक तटस्थता ब्रिटिश लोक सेवा की प्रमुख विशेषताएं हैं जिन्हें स्वतन्त्र भारत में ज्यों-का-त्यों अपना लिया गया।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि भारत में बहुत कुछ ब्रिटिश नमूने की शासन पद्धति को अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप ढालकर स्वीकार किया गया है। भारतीय प्रशासन का जो मॉडल आज हमारे सामने है वह एक लम्बी विकास यात्रा का परिणाम है और उस पर ब्रिटिशकालीन प्रशासन की स्पष्ट गहरी छाप है।[1]

भारत में ब्रिटिशकालीन अथवा औपनिवेशिक प्रशासन की विशेषताएं

भारतीय लोक प्रशासन के ऐतिहासिक विकास में ब्रिटिश शासन काल का विशिष्ट महत्व है। इस काल में प्रशासनिक ढांचे की रचना हुई, प्रशासन में प्रजातन्त्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरण का सूत्रपात हुआ, न्याय व्यवस्था को सुव्यवस्थित किया गया, भूमि व्यवस्था की निश्चित योजना लागू की गई, दीवानी और फौजदारी कानूनों का निर्माण हुआ तथापि यह एक औपनिवेशिक शासन तन्त्र था, जिसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएं थीं:

1. लोक प्रशासन की प्रकृति नौकरशाही की थी। सम्पूर्ण प्रशासन नौकरशाही द्वारा संचालित था। अंग्रेजों ने भारत में आधुनिक ढंग की नौकरशाही या अधिकारीतन्त्र कायम किया जिसमें नियुक्ति योग्यता के आधार पर खुली परीक्षा लेकर होती थी। ब्रिटेन से भी पहले भारत में यह तरीका लागू किया गया। इसके फलस्वरूप आई. सी. एस. की सृष्टि हुई।

2. लोक प्रशासन की संगठनात्मक संरचना केन्द्रीकरण के सिद्धान्त के आधार पर हुई थी। सारी शक्ति भारत मन्त्री, गवर्नर जनरल, गवर्नरों, कमिश्नरों और कलक्टरों के हाथों में थी। सन् 1935 के ऐक्ट द्वारा प्रान्तों में स्वायत्तता की स्थापना का प्रॉवधान किया गया था और 1937 में प्रान्तीय स्वायत्तता के लागू होने पर प्रान्तों के गवर्नरों ने जिस ढंग से कार्य किया था उसके कारण गवर्नर जनरल, भारत सचिव, आदि की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया।

3. शासन का ढांचा पूर्णतः सोपानबद्ध (Hierarchical) था। सत्ता की कड़ी प्रान्तीय सरकार से कमिश्नर, कलक्टर और तहसीलदार से होती हुई गांव के मुखिया तक पहुंचती थी।

4. भारत में लोक प्रशासन की क्रियाएं और गतिविधियां काफी सीमित थीं। प्रशासन का मुख्य उत्तरदायित्व कानून और व्यवस्था बनाए रखने तक ही सीमित था। औपनिवेशिक प्रशासन की सामाजिक कल्याण, आर्थिक विकास, ग्रामीण विकास और राष्ट्र निर्माण के कार्यों में कोई रुचि नहीं थी।

5. लोक प्रशासन जनहित की भावना से पूर्णतः शून्य थे। ब्रिटिश नौकरशाही ने जनता के प्रति उत्तरदायित्व के बारे में कभी सोचा ही नहीं। उनकी प्रशासनिक क्रियाओं का उद्देश्य अंग्रेज स्वामियों का हित होता था तथा वे अपने को ब्रिटिश शासन के प्रति उत्तरदायी मानते थे।

---

1 "Among the several legacies of the British rule in the country, one that was recognised as an asset was the administrative system. After 40 years of change, the core of administrative machine still remains intact."
—*P. R. Dubhashi*

6. लोक प्रशासन भय और आतंक पर आधारित था। दमन और करों की वसूली नौकरशाही के मुख्य उद्देश्य थे। पुलिस, वन विभाग, मालगुजारी वसूल करने वाले कर्मचारी रिश्वत और आतंक को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे।

7. साम्राज्यवादी युग में विकास और जनकल्याण सम्बन्धी गतिविधियों के अभाव में तथा औपनिवेशिक सरकार के राजस्व तथा मजिस्ट्रेसी के कार्यों में अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण केन्द्र तथा प्रान्त दोनों ही स्तरों पर तकनीकी एवं विशेषज्ञ लोक सेवाएं या तो जन्म ही नहीं ले सकीं अथवा एक अधीनस्थ स्थिति में रहते हुए अपने शैशवकाल में ही रहीं।

8. ब्रिटिश काल में भारत में लोक प्रशासन की एक विशेषता उसकी सिविल सेवा का वर्गीय आधार का होना था। इण्डियन सिविल सर्विस में केवल कुलीन, उच्च शिक्षा प्राप्त वर्ग के व्यक्तियों की ही नियुक्ति सम्भव थी।

9. भारत में एक ही काल और एक ही समय में लोक प्रशासन के दो रूप थे : ब्रिटिश भारत का प्रशासन एवं देशी भारत की रियासतों का प्रशासन। ब्रिटिश भारत में लोक प्रशासन के क्षेत्र में एकरूपता थी, समान न्याय व्यवस्था और समान संगठनात्मक संरचना थी। जबकि देशी रियासतों के प्रशासन में बड़ी विभिन्नताएं थीं। कुछ रियासतों में मध्यकालीन सामन्तवादी प्रशासन प्रचलित था तो कुछ में आधुनिक प्रशासन का सूत्रपात हो गया था।

10. ब्रिटिश शासन काल में लोक प्रशासन में कुशलता और अनुशासन के गुण विद्यमान थे। आदेशों की अवहेलना नहीं होती थी। उच्च अधिकारियों का चरित्र सन्देह से परे था। कुशलता की दृष्टि से ब्रिटिशकालीन भारतीय प्रशासन को विश्व में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।

6. स्वातन्त्र्योत्तर प्रशासन
(POST-INDEPENDENCE ADMINISTRATION)

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय प्रशासन के स्वरूप में आमूल-चूल परिवर्तन आया है। 26 जनवरी, 1950 के बाद भारत में लोकतन्त्र, विकास और समाजवाद के लिए लोक प्रशासन युग की शुरुआत हुई है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय प्रशासन को नए और विशिष्ट महत्व के कार्यों के सम्पादन की चुनौती स्वीकार करनी पड़ी। 26 नवम्बर, 1949 को संविधान निर्मात्री सभा ने भारत के संविधान को अंगीकृत किया। जो प्रशासन औपनिवेशिक शोषण और दमन का यन्त्र था वह अब सम्प्रभु लोकतान्त्रिक गणतन्त्र का सेवक बन गया। सम्प्रभु लोकतान्त्रिक गणतन्त्र की मूर्तिमान संस्था का रूप संसद ने ग्रहण किया जो वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन से गठित की गयी। लोक प्रशासन को संसद के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया।

अब लोक प्रशासन का उद्देश्य संविधान की प्रस्तावना में उल्लेखित लक्ष्यों—".....उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए....." हो गया। ब्रिटिश राज में जहां प्रशासन पुलिस राज्य का यन्त्र था वह अब जन-कल्याणकारी राज्य का उपकरण हो गया। राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों में कहा गया है कि "राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक-कल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा।" (अनुच्छेद 38 : भारत का संविधान) दिसम्बर, 1954 में संसद ने समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य घोषित किया और अब प्रशासन समाजवादी समाज की स्थापना करने वाला उपकरण बन गया है। अब प्रशासन का कार्य है—पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन उपलब्ध कराना, धन और उत्पादन का अहितकारी संकेन्द्रण रोकना, ग्राम-पंचायतों का संगठन करना, सामाजिक अन्याय और सभी प्रकार के शोषण से दुर्बल वर्गों की रक्षा करना, कृषि और पशुपालन को वैज्ञानिक ढंग से संगठित करना, आदि-आदि। अब प्रशासन कानून और व्यवस्था मात्र बनाने वाला उपकरण नहीं है अपितु जन-कल्याण और आर्थिक विकास का अभिकर्ता है। विभिन्न पंचवर्षीय विकास योजनाओं के क्रियान्वयन का दायित्व प्रशासन के कन्धों पर डालकर उसे अपने मालिकों के सामाजिक-आर्थिक विकास का वाहक बना दिया गया है। अब लोक प्रशासन आर्थिक एवं औद्योगिक गतिविधियों में भाग लेने लगा, ग्रामीण विकास और गांवों में सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की गति को तीव्र करने का उत्तरदायित्व लोक प्रशासन पर ही डाला गया। सामुदायिक विकास कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया तथा

विस्तार सेवाओं के माध्यम से गांवों में जागृति लाने का कार्य लोक प्रशासन को ही करना था। पंचायती राज की स्थापना से अधिकारियों को निर्वाचित प्रतिनिधियों के साथ-साथ काम करने की आदत विकसित करनी पड़ी। राजस्व प्रशासन के साथ विकास प्रशासन का मिश्रण किया गया। कलक्टर और तहसीलदार राजस्व के साथ-साथ विकास प्रशासन के क्रियान्वयन के आधार-स्तम्भ बन गए। नए-नए तकनीकी विभागों जैसे, कृषि अनुसन्धान और शिक्षा विभाग, दूर संचार विभाग, परिवार कल्याण विभाग, ग्रामीण विकास विभाग, विनिवेश विभाग, सूचना प्रौद्योगिकी मन्त्रालय, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय की स्थापना की गयी। सरकारी सेवाओं में सामान्यज्ञों के बजाय विशेषज्ञों के सैकड़ों पद सृजित हुए और औपनिवेशिक चरित्र वाला प्रशासन लोकतान्त्रिक प्रशासन में रूपान्तरित होने लगा। आज लोक प्रशासन में प्रक्रियात्मक सुधार एवं प्रशासकों के सभी स्तरों पर प्रशिक्षण को विशेष महत्व दिया जाने लगा है।

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में प्रशासन के ऐतिहासिक विकास का विवेचन कीजिए।
2. भारतीय प्रशासन पर ब्रिटिश प्रभावों का उल्लेख कीजिए।
3. मुगलकालीन भारतीय प्रशासन की प्रमुख विशेषताएं बताइए।
4. भारत में लोक प्रशासन के विकास की दृष्टि से 1919 तथा 1935 के भारत शासन अधिनियमों के योगदान की विवेचना कीजिए।

लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. मौर्यकालीन प्रशासन के प्रमुख लक्षण बताइए।

उत्तर—कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज की इण्डिका, अशोक के शिलालेख व अनेक यूनानी रचनाओं से मौर्य शासन प्रणाली के विषय में जानकारी प्राप्त होती है।

मौर्य शासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था, अतः शासन का प्रधान राजा होता था। राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रिपरिषद होती थी। मन्त्रिपरिषद का मुख्य कार्य राजा को परामर्श देना होता था किन्तु उस परामर्श को स्वीकार करने के लिए राजा वाध्य न था।

मन्त्रिपरिषद और राजा के द्वारा नीति-निर्धारण का कार्य किया जाता था और नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रमुख कार्य नौकरशाही के द्वारा किया जाता था। प्रशासन की सुविधा के लिए 18 विभागों की स्थापना की गई थी जिन्हें 'तीर्थ' कहते थे। साम्राज्य को 6 प्रान्तों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक प्रान्त अनेक मण्डलों में विभक्त था। प्रशासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। पाटलिपुत्र नगर के प्रशासन के लिए 30 सदस्यों की एक नगर सभा होती थी। नौकरशाही पूरी तरह श्रेणीवद्ध थी, इसका आभास विभिन्न श्रेणियों के अधिकारियों के वेतनमानों से मिलता है।

प्रश्न 2. भारत में ब्रिटिशकालीन प्रशासन की विशेषताएं बताइए।

उत्तर—भारत में ब्रिटिशकालीन प्रशासन औपनिवेशिक शासन तन्त्र था जिसकी निम्नांकित विशेषताएं हैं—(1) लोक प्रशासन की प्रकृति नौकरशाही की थी। (2) लोक प्रशासन की संगठनात्मक संरचना केन्द्रीकरण के सिद्धान्त के आधार पर हुई थी। (3) शासन का ढांचा पूर्णतः सोपानबद्ध था। (4) प्रशासन की क्रियाएं और गतिविधियां काफी सीमित थीं। (5) लोक प्रशासन भय और आतंक पर आधारित था। (6) लोक सेवाओं का वर्गीय आधार था। (7) लोक प्रशासन में कुशलता और अनुशासन के गुण विद्यमान थे। (8) विकास और जनकल्याण सम्बन्धी गतिविधियों का अभाव था।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रिटिश प्रशासन की दो विरासत बताइए।
2. फोर्ट विलियम कॉलेज का मुख्य कार्य क्या था?
3. भारत में विभागीय पद्धति कब प्रारम्भ हुई?
4. भारत में स्थानीय स्वशासन का जनक किसे माना जाता है?
5. भारत में सर्वप्रथम केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् की स्थापना किस ऐक्ट द्वारा की गई?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भारत के वर्तमान प्रशासन पर सर्वाधिक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है :

(अ) सल्तनतकालीन प्रशासन (ब) मुगलकालीन प्रशासन
(स) ब्रिटिशकालीन प्रशासन (द) राजपूतकालीन प्रशासन। (स)